चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 17–18, अंक 1–8 संयुक्तांक : जनवरी–मार्च, 2020 से अक्टूबर–दिसम्बर, 2021

संस्थापक सम्पादक

स्व. बी. बी. कुमार

सम्पादक

डॉ. शिवनारायण

आस्था भारती

दिल्ली-110096

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपये
अन्दर कवर	15,000.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपये

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट्स
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
26/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट्स
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5
कोरोना के बाद भी

1. हिन्द स्वराज : यह पक्ष भी जानिए 7
कमलकिशोर गोयनका

2. हिन्दी साहित्य में पर्यावरण-चेतना 22
डॉ. दामोदर खड़से

3. बंगला नवजागरण का वैचारिक दर्शन 33
डॉ. भुवाल सिंह

4. समकालीन कथा साहित्य में श्रमिक वर्ग का जीवन 41
डॉ. चिट्टि अन्नपूर्णा, डॉ. रेन्जू मुरलीधरन

5. कैलाश सत्यार्थी के कार्यों की अनुकृति हैं उनकी कविताएँ 49
पंकज चौधरी

6. अनुच्छेद 370 और जम्मू कश्मीर 59
डॉ. आनन्दी कुमार

7. मानव प्रवास के साथ बदलता भौगोलिक भाषा-विज्ञान और उनका सांस्कृतिक एवं नृजातीय बोध 68
डॉ. हरेराम सिंह

8. उपन्यास का विकास काल और महिला उपन्यासकारों की भूमिका 72
डॉ. नीलू अग्रवाल

9. बौद्ध-धर्म के बन्धन एवं मोक्ष का दार्शनिक सौन्दर्य 78
डॉ. रूपेश कुमार सिंह

10. *ललित निबन्ध* 97
दो दिनों का मेला
मृत्युंजय उपाध्याय

11. बौद्ध धर्म की प्रासांगिता 101
स्नेहा कुमारी

12. दलित साहित्य की शिल्पगत विशेषताएँ 107
डॉ. चन्द्रभान राम

13. असम में हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास 115
दिगंत बोरा

14. वर्तमान युग के युवाओं के लिए गाँधी विचारधारा की आवश्यकता 120
डॉ. पी. राजरत्नम

15. दोहरा अभिशाप : आत्मकथा में अभिव्यक्त दलित स्त्री-जीवन 123
डॉ. उमा देवी

संपादकीय परिप्रेक्ष्य

कोरोना के बाद भी

कोरोना काल में एक लंबे अंतराल बाद अनेक विघ्नों को पार करते हुए 'चिंतन-सृजन' का पुनः प्रकाशन हो रहा है। इस बीच हमने 'आस्था-भारती' के दो प्रेरक स्तम्भों, प्रो. बी.बी. कुमार और श्री जे.एन. राय, को खो दिया। इन दोनों विभूतियों के नहीं रहने पर एकबारगी तो लगा कि 'चिंतन-सृजन' की यात्रा बस अब थमने ही वाली है, लेकिन 'आस्था भारती' के न्यासियों ने गहन आत्म-मंथन के बाद अपने नए अध्यक्ष एवं सचिव के चयन के साथ ही निर्णय लिया कि 'डॉयलॉग' और 'चिंतन सृजन' का प्रकाशन अनवरत जारी रखा जाए। हमें कृतज्ञ होना चाहिए सभी न्यासियों सहित नए अध्यक्ष श्री प्रकाश सिंह एवं सचिव डॉ. लता सिंह का, कि उन्होंने इन पत्रिकाओं के प्रकाशन को जारी रखते हुए ज्ञान और सूचना के प्रकाश को फैलाने का संकल्प किया। उन सबके निर्णय के अनुसार 'चिंतन-सृजन' के वर्तमान अंक को जनवरी-मार्च, 2020 से अक्टूबर-दिसम्बर, 2021 तक के अंकों को शामिल करते हुए संयुक्तांक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। इससे पत्रिका के क्रम की अखंडता बनी रहेगी। आगे इसके अंकों को नियमित रखते हुए पत्रिका के स्वरूप में किचित परिवर्तन किया जाएगा।

कोरोना ने न केवल भारत, बल्कि पूरी दुनिया के जीवन को प्रभावित किया। यह एक नई प्रकार की आपदा है। प्राकृतिक आपदाएँ तो झेलने को विश्व अभिशप्त रहा, किन्तु कोविड-19 प्राकृतिक आपदा नहीं है। देखा जाए तो प्राकृतिक आपदा के रूप में महामारियों का इतिहास विश्व में बहुत पुराना रहा है। सबसे पहली महामारी प्लेग और 'जस्टिनियन' के रूप में सामने आई थी, जो 539 ई. से 542 ई. तक चली। मिश्र से इसकी शुरुआत हुई, जिसमें लगभग 2.5 करोड़ लोग मारे गए थे। दूसरी बार 1346 ई. से 1353 ई. तक फैली 'ब्लैक डेथ' यानी काली मौत नामक महामारी आई, जिसमें लगभग 20 करोड़ लोग मारे गए। उस महामारी की शुरुआत चीन से हुई थी। उसके बाद 1817 से 1820 तक हैजा अथवा कालरा नामक महामारी फैली थी। भारत से आरंभ हुए इस महामारी में करीब 8 लाख लोग मारे गए। तत्पश्चात फिर 'एवियन ल्यू' नामक महामारी 1956 से 1958 तक चली। चीन से शुरू हुई इस महामारी में 20

लाख से अधिक लोग मरे। 1918-20 में विश्वयुद्ध के समय भी 'स्पेनिश ल्यू' नामक महामारी में 5 करोड़ से अधिक लोग दुनिया भर में मारे गए थे। 1971 में अफ्रीका से एड्स (एच॰आई॰भी॰) नामक महामारी शुरू हुई, जिसमें 3.6 करोड़ लोग मारे गए। 2005-2012 तक इसका व्यापक दुष्प्रभाव रहा। यह असुरक्षित यौन संबंध से फैली या संक्रमित महामारी है। आज तक इसकी काली छाया दुनिया पर मंडरा रही है। इन सभी प्रमुख महामारियों के बाद अब जाकर चीन से आरंभ हुए कोविड-19 नामक महामारी से पूरी दुनिया संत्रस्त है, जिसमें भारत भी बुरी तरह प्रभावित रहा। अब तक दुनिया में 45.5 लाख लोग मर चुके हैं।

कोरोना ने जीवन-शैली बदल दी है। लाखों लोग इस महामारी से अकाल कवलित हुए। कोरोना की इन तमाम यंत्रणा के बाद भी मनुष्य की जिजीविषा और उसका जीवन सुखद भविष्य की आकांक्षा में गतिशील है। इस अप्राकृतिक आपदा ने आवारा पूंजीवाद (क्रॉनी कैपिटलिज्म) के एक नये विकृत चेहरे से परिचय कराया है, जो अत्यंत अमानवीय एवं नृशंस है। इसने न केवल रोजगार के अवसर छीने, बेतहाशा महंगाई बढ़ाई, भ्रष्टाचार को क्रूरतम किया; बल्कि अनुत्पादक शक्तियों को फलने-फूलने का स्वर्णिम अवसर प्रदान किया। विश्व में एक नए प्रकार के साम्राज्य-संघर्ष को इसने विस्तारित किया है। विश्व की महाशक्तियों में परस्पर आगे बढ़ने और अपना वर्चस्व जमाने की होड़ लगी हुई है। प्राकृतिक आपदाएँ आती हैं, तो कुछ नए अवसर भी दे जाती हैं; लेकिन इस अप्राकृतिक आपदा ने गरीबों की मुश्किलों को बढ़ाया ही है। इन तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच आने वाले दिनों में ज्ञान के अनुशासनों में भी परिवर्तन परिलक्षित किया जाएगा, जिसे शोध और इच्छाशक्ति से ही संतुलित किया जा सकेगा। हमारे युवा शोधार्थी अपने-अपने अनुशासनों में तमाम विषमताओं से जूझते हुए मनुष्य और समाज के विकास का मार्ग प्रशस्त कर पाने में सक्षम होंगे, ऐसा हमें विश्वास है।

'चिंतन-सृजन' के इस अंक के साथ हम भी ज्ञान के अनुशासनों में कुछ नए विचार के साथ आपके सम्मुख होंगे, ऐसा विश्वास दिलाना चाहेंगें। बीत महीनों में कोरोना कवलित तमाम लोगों की स्मृति को अपनी श्रद्धांजली अर्पित करते हुए 'आस्था भारती' अपने सभी न्यासियों-अधिकारियों के प्रति, विशेषकर नए अध्यक्ष श्री प्रकाश सिंह के प्रति, आभार निवेदित करते हैं कि उन्होंने 'चिंतन-सृजन' का प्रकाशन जारी रखने का संकल्प लिया है।

–डॉ॰ शिवनारायण

हिन्द स्वराज : यह पक्ष भी जानिए

कमलकिशोर गोयनका

गांधी के 'हिन्द स्वराज' की इधर काफी चर्चा है। 'हिन्द स्वराज' की रचना की शताब्दी नवम्बर, 2009 से आरम्भ होती है। गांधी ने इंग्लैंड में चार महीने रहने के बाद 13 नवम्बर, 1909 को 'किल्डोनन कैसिल' नाम जलयान से दक्षिण अफ्रीका के लिए प्रस्थान किया और इसी तिथि से गुजराती में 'हिन्द स्वराज' का लेखन आरम्भ हुआ। गाँधी ने इसे 3 से 22 नवम्बर, 1909 को समाप्त किया। वे 30 नवम्बर, 1909 को जोहानिसबर्ग पहुँचे। दक्षिण अफ्रीका पहुँचते ही गांधी ने गुजराती में लिखित 'हिन्द स्वराज' को 'इंडियन ओपिनियन' के दिनांक 11 व 18 दिसम्बर, 1909 के अंकों में प्रकाशित किया और पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन जनवरी, 1910 में हुआ। गांधी ने हिन्द स्वराज के गुजराती में प्रकाशित रूप में इसका प्रकाशन जनवरी, 1910 में हुआ। गांधी ने हिन्द स्वराज के गुजराती में प्रकाशित प्रथम संस्करण की प्रस्तावना जहाज पर ही 22 नवम्बर, 1909 को लिख ली थी, जिसका अर्थ है कि गांधी ने इसे 'इंडियन ओपिनियन' में धारावाहित रूप में प्रकाशित करने के साथ उसे पुस्तकाकार रूप में भी प्रकाशित करने का निर्णय एक साथ किया था। 'हिन्द स्वराज' के मूल गुजराती संस्करण (प्रथम) की प्रतियाँ मुम्बई पहुँचीं तो ब्रिटिश सरकार ने इसे 'राजद्रोहात्मक' मानकर उसे जब्त कर लिया और प्रतिबन्ध लगा दिया। ब्रिटिश सरकार ने 24 मार्च, 1910 को प्रकाशित गजट में इस जब्ती की सूचना प्रकाशित की, बात नहीं थी। 'इंडियन ओपिनियन' के 19 मार्च, 1910 के अंक में 'हिन्द स्वराज पर रोक' शीर्षक से छपी खबर में लिखा है—"भारत से तार द्वारा खबर मिली है कि भारत में श्री गांधी की लिखी 'हिन्द स्वराज' पुस्तक को बेचने पर रोक लगा दी गयी है। यह एकदम आश्चर्य की बात तो नहीं है। इस पुस्तक के कुछ विचार ब्रिटिशराज के विरुद्ध पड़ते हैं।"[1]

'हिन्द स्वराज' (गुजराती) की जब्ती पर गांधी ने निर्भयता से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की और तत्काल कुछ निर्णय लिये। गांधी ने तत्काल 'हिन्द स्वराज' के मूल

सम्पर्क - ए/98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052, मो. 9811052469

गुजराती रूप का अंग्रेजी में अनुवाद करने का निर्णय किया। गांधी ने इसका शब्दशः अनुवाद नहीं किया और मूल के भावों को सही रूप में रखने का प्रयत्न किया, यद्यपि उन्होंने माना कि इसमें उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली। गांधी गुजराती के अंश को पढ़कर उसका अंग्रेजी अनुवाद बोलते थे और उनके सहयोगी कैलेन बैक उसे लिखते थे। गांधी ने अंग्रेजी अनुवाद अंग्रेजों को पुस्तक को समझाने के लिए किया था[2] और इसीलिए इसका शीर्षक 'इंडियन होमरूल' रखा। गांधी ने माना कि वे यदि इस पुस्तक को मूल रूप में अंग्रेजों के लिए लिखते तो विषय का प्रतिपादन एवं लेखन-शैली भिन्न होती। उन्होंने इसका कारण स्पष्ट करते हुए लिखा कि इस रूप में गुजराती में लिखना सरल होता है तथा संवाद रूप में विषय को स्पष्ट करने में भी आसानी होती है। जब्ती की घटना ने उन्हें बता दिया था कि अंग्रेजी रूप में भी पुस्तक 'खतरनाक या राजद्रोहात्मक' मानी जा सकती है और इस पर दूसरे लोग दंडित हो सकते हैं, लेकिन इसके प्रकाशन को टालना वे कायरता मानते थे। इसी कारण 'हिन्द स्वराज' (गुजराती) की जब्ती के लगभग दो महीने बाद ही इसका अंग्रेजी अनुवाद 'इंडियन होमरूल' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस अंग्रेजी अनुवाद में गांधी की लिखी एक भूमिका है जिस पर 20 मार्च, 1910 की तिथि छपी है। यह एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। इसमें गांधी ने 'हिन्द स्वराज' की जब्ती के कारणों और अंग्रेजी अनुवाद की प्रक्रिया आदि पर अपना पक्ष स्पष्ट किया है। गांधी ने जब्ती के कारणों में जो सर्वप्रमुख माना वह यह है कि ब्रिटिश सरकार भयग्रस्त है। 'हिन्द स्वराज' में ब्रिटिश सरकार के तौर-तरीकों तथा पश्चिमी सभ्यता जिसका प्रतिनिधित्व ब्रिटिश सरकार करती है, उसकी निन्दा की गयी है। गांधी ने सरकार द्वारा 'राजद्रोहात्मक' मानने की आपत्ति का उत्तर देते हुए लिखा कि इसमें हिंसा का तनिक-सा भी समर्थन नहीं है, बल्कि वह तो हिंसा के आधुनिक तरीके के अपनाने का विरोध करता है, लेकिन मैं 'न्याय और नीति' के नाम पर जो सरकार कर रही है, मैं उसका आलोचक हूँ और अगर मैं ऐसा नहीं करता तो मैं सत्य का, भारत का और जिस साम्राज्य के प्रति वफादार हूँ उसका द्रोही बनाता।[3] गांधी ने कुछ समय बाद फिर 'इंडियन ओपिनियन' (7 मई, 1910) को लिखा कि जब्ती के मूल में भारत सरकार का भयग्रस्त होना है, किन्तु ऐसे दमन से खतरनाक प्रकाशनों का प्रचार रुक नहीं सकता और वैसे ही सत्याग्रही पर दमन का कोई असर नहीं होता। सत्याग्रह ही हिंसा को रोक सकता है और यदि सरकार चाहे तो हम भी योग देना चाहेंगे।[4]

'हिन्द स्वराज' के सम्बन्ध में गांधी के इन विचारों को समझने तथा उसके सूत्रों को जानने के लिए उसकी रचना की पृष्ठभूमि जानना आवश्यक है। इस जिज्ञासा का उत्तर खोजना जरूरी है कि क्या 'हिन्द स्वराज' की रचना अचानक हुए बौद्धिक विस्फोट के रूप में हुई या इसकी रचना की भूमिका उनके विगत वर्षों के अनुभवों तथा निर्मित प्रतिमानों से तैयार हो रही थी? दक्षिण अफ्रीका के गांधी के अनुभवों तथा

उनके जीवन-सिद्धान्तों एवं संघर्ष में किये गये प्रयोगों के इतिहास को देखें तो सत्याग्रह, अहिंसा, सविनय अवज्ञा, आत्मबल, पश्चिमी सभ्यता का विरोध जैसी कई धारणाओं को 'हिन्द स्वराज' में स्थान मिला है। गांधी ने माना भी है कि 'हिन्द स्वराज' अनेक वर्षों के चिन्तन का दोहन है[5] तथा ये संघर्ष के दौरान परिपक्व हुए हैं और इन्हें बहुत सोच-समझकर व्यक्त किये हैं।[6] यदि हम 'हिन्द स्वराज' की रचना से लगभग एक महीने पहले दिये गये उनके एक भाषण तथा एक पत्र को देखें तो इनमें व्यक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि गांधी 'हिन्द स्वराज' को लिखने के कितने दबाव में थे। गांधी ने 13 अक्टूबर, 1909 को इंग्लैंड में हैम्प स्टेड पीस एंड आर्बिट्रेशन सोसाइटी के कार्यक्रम में पूर्व और पश्चिम पर एक भाषण दिया। इसमें गांधी ने आधुनिक सभ्यता अर्थात पश्चिमी सभ्यता की कटु आलोचना की और आत्मा के स्थान पर शरीर को महत्त्व देने, यन्त्रों से नैतिकता का पतन होने, तीर्थ स्थानों को आमोद-प्रमोद का केन्द्र बनाकर उनकी पवित्रता को भंग करने की प्रवृत्ति को घातक माना।[7] इसी प्रकार 14 अक्टूबर, 1909 को लन्दन से एच.एस.एल. पोलक को लिखे लम्बे पत्र में गांधी ने पूर्व-पश्चिम, आधुनिक सभ्यता, मौलिकता, नैतिकता, अस्पताल, यन्त्र, मिल, हिंसा, क्रान्तिकारी, भारतीय सभ्यता, आत्म-त्याग, संयम, भाषा आदि अनेक विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये जिनमें से अनेक विचारों की उन्होंने 'हिन्द स्वराज' में विस्तृत व्याख्या की। गांधी इसी मनःस्थिति में लन्दन से दक्षिण अफ्रीका प्रस्थान करने से पहले ही 'हिन्द स्वराज' लिखने का निर्णय कर चुके थे। उन्होंने इसी पत्र में पोलक को लिखा, "इसलिए मैंने यहाँ ज्यादा गम्भीर निरीक्षण के बाद जो निश्चित निष्कर्ष निकाले हैं, अब मुझे लिख डालना चाहिए।"[8]

'हिन्द स्वराज' की रचना में देश-विदेश में होने वाली हिंसात्मक घटनाओं तथा आतंकवादी विचारधारा की प्रेरणा को गांधी ने स्वीकार किया है। गांधी ने 'यंग इंडिया' (26 जनवरी, 1921) में 'हिन्द स्वराज' शीर्षक टिप्पणी में लिखा, "जब मैं लन्दन से (1909) दक्षिण अफ्रीका लौट रहा था, उस समय समुद्री-यात्रा के दौरान भारतीय आतंकवादी विचारधारा और उससे मिलती-जुलती विचारधारा रखने वाले दक्षिण अफ्रीका के लोगों के जवाब में मैंने इसे लिखा था। लन्दन में मुझे हर जाने-पहचाने भारतीय आतंकवादी के सम्पर्क में आने का मौका मिला था। उनकी बहादुरी ने मुझे प्रभावित किया, लेकिन मैंने उनके जोश को गुमराह पाया। मैंने महसूस किया कि भारत की मुसीबतों का इलाज हिंसा नहीं है और भारतीय सभ्यता को आत्मरक्षा के लिए दूसरी तरह के और ज्यादा ऊँचे किस्म के हथियार की ज़रूरत है।[9] भारत में इस काल-खंड में कई हिंसात्मक घटनाएँ हो चुकी थीं। 'बंग-भंग' के बाद गरम दल का जन्म हुआ। सन् 1908 में मुजफ्फरपुर के जिला मजिस्ट्रेट किंगफोर्ड को मारने के लिए खुदीराम बोस ने बम फेंका, जिसमें श्रीमती और कुमारी कैनेडी की मौत हुई। इसके बाद खुदीराम को गिरफ्तार करने वाले सब-इंस्पेक्टर नन्दलाल की हत्या

कर दी गयी। अलीपुर षड्यन्त्र केस में सरकारी गवाह बनने वाले नरेन्द्र गोसाईं की भी हत्या हुई। सन् 1909 में गणेश सावरकर को राजद्रोहात्मक कविता लिखने पर आजीवन कारावास हुआ। कलकत्ते में सरकारी वकील आशुतोष लाहिड़ी को गोली मारी गयी। गांधी के लन्दन पहुँचने से पहले 2 जुलाई, 1909 को मदनलाल धींगरा ने सर कर्नल वाइली की हत्या कर दी। गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए 'इंडियन ओपिनियन' के 14 अगस्त, 1909 को लिखा कि इस हत्या से भारत की बहुत हानि हुई है। ऐसी हत्याओं से भारत को लाभ नहीं होगा। हत्या से स्वराज मिलेगा तो हत्यारे ही राज्य करेंगे। वैसे भी, ऐसे कार्य मनुष्य नशे में करता है। अतः बहादुरी तो नशे की हुई, मनुष्य की नहीं।[10] गांधी ने धींगरा के इस बयान को, कि 'मैंने देश की भलाई के लिए हत्या की है, बचपना-भरा या पागलों-सा बयान माना।11 गांधी 10 जुलाई को प्रातः लन्दन पहुँचे थे और 17 अगस्त, 1909 को मदनलाल धींगरा को फाँसी दे दी गयी। गांधी लन्दन में लगभग चार महीने रहे और इस बीच उनकी अनेक भारतीयों एवं अंग्रेजों से भेंट हुई। इनमें प्रसिद्ध क्रान्तिकारी वीर सावरकर भी थे। गांधी ने स्वयं स्वीकार किया है कि इंग्लैंड प्रवास के दौरान उनकी अनेक क्राान्तिकारियों से बातचीत हुई थी। गांधी ने भाई परमानन्द से 9 जनवरी, 1940 को हुई बातचीत में कहा था, "अपने जीवन में बहुतेरे क्रांतिकारियों से मिला हूँ। जब मैंने 'हिन्द स्वराज' लिखा और मेरे इंग्लैंड प्रवास के दौरान जब कर्नल वाइली की हत्या हुई, तब से ही मैं क्रान्तिकारियों के साथ चर्चा करता हूँ। वे यह जानकर मेरे पास आते हैं कि मैं उनकी बातें धीरज के साथ सुनूँगा और यह कि मैं उनका एक ऐसा विश्वस्त मित्र हूँ जिसे वे अपने रहस्य बात सकते हैं।[12] गांधी ने इस सम्बन्ध में एक और रहस्योद्घाटन किया है कि लन्दन में एक पक्के विप्लवकारी से जो बातचीत हुई उसको ही ईमानदारी के साथ लिपिबद्ध किया गया है।[13] गांधी ने 'हिन्द स्वराज' के प्रकाशन के तीस वर्ष बाद इस विप्लवकारी के नाम की घोषणा अपने भाषण में की। गाँधी ने मलिकन्दा के 'गाँधी सेवा-संघ' के भाषण में कहा, "शायद आपको पता नहीं होगा कि मैंने 'हिन्द स्वराज' किसके लिए लिखा। अब तो वे मर गये हैं, इसलिए उनका नाम बताने में भी हर्ज नहीं है। मैंने सारा 'हिन्द स्वराज' अपने मित्र डॉ. प्राणजीवन मेहता के लिए लिखा। उनसे जो चर्चा हुई, वही उसमें आयी है। एक महीना मैं डॉ. मेहता के साथ रहा। वे मुझे प्यार करते थे, लेकिन मेरी बुद्धि की उनके पास कोई कीमत नहीं थी। वे मुझे मूर्ख और भावुक मानते थे, लेकिन अनुभव से मुझमें हिम्मत आ गयी थी। कुछ वाचा भी आ गयी थी। डॉ. मेहता कितने बुद्धिशाली आदमी थे? उनसे बुद्धिवाद करने की शक्ति मुझमें कहाँ? लेकिन मैंने अपनी बात उनके सामने रखी। उनके हृदय पर वह असर कर गयी, उनके विचार बदल गये। तो मैंने सोचा उसे लिख ही क्यों न डालूँ? उनसे जैसा संवाद हुआ, वैसा ही इसमें लिखा है।"14 इस प्रकार गांधी व्यक्तिगत बातचीत को सार्वजनिक करने में कोई दोष नहीं मानते, क्योंकि वे अपने विचारों को

'हिन्दुस्तान के लिए उपयोगी मानते हैं। इसीलिए गाँधी 'हिन्द स्वराज' के अंग्रेजी अनुवाद 'इंडियन होमरूल' के प्रथम संस्करण की भूमिका में लिखते हैं कि अगर मुझे यह मालूम न हो गया होता कि दक्षिण अफ्रीका में भी हिंसात्मक साधनों के लोकप्रिय होने का खतरा है और मेरे सैकड़ों देशभाइयों ने और कई अंग्रेज मित्रों ने भी मुझसे यह आग्रह न किया होता कि मैं भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करूँ तो मैं संघर्ष की खातिर अपने विचारों का लेखबद्ध न करता, लेकिन आज मेरा जो स्थान है उसे देखते हुए, उपर्युक्त परिस्थितियों में इस पुस्तक के प्रकाशन को टालना मेरे लिए कायरता होती।[15]

गांधी अपने विचारों की सत्ता के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण देते हैं कि "'हिन्द स्वराज' में व्यक्त विचार उनके हैं और उनके नहीं भी हैं। गांधी इस पहेली को स्पष्ट करते हैं। ये विचार उनके हैं, क्योंकि वे उनकी आत्मा में बसे हैं कि वे मरे नहीं हैं, क्योंकि मैंने उन्हें अनेक पुस्तकों के अध्ययन से निकाला है। गाँधी 'इंडियन ओपिनियन' के 2 अप्रैल, 1910 के अंक में लिखते हैं, 'हिन्द स्वराज' में प्रकट किये गये विचार मेरे विचार हैं और मैंने भारतीय दर्शनशास्त्र के आचार्यों के साथ टॉल्स्टॉय, रस्किन, थोरो, इमर्सन और अन्य लेखकों का भी नम्रतापूर्वक अनुसरण करने का यत्न किया है।"16 इस प्रकार गांधी अनेक विद्वानों के विचारों में से अपने अनुकूल विचारों को संश्लिष्ट करके अपना बनाकर प्रस्तुत करते हैं और "'हिन्द स्वराज' में वे अपना एक हिन्द-दर्शन देते हैं। गांधी को इसका अन्दाजा है कि उनके विचार खतरनाक या राजद्रोहात्मक भी माने जा सकते हैं, परन्तु वे अपने विचारों के संशोधन-परिवर्तन के लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने 10 अप्रैल, 1914 को 'इंडियन ओपिनियन' में लिखा कि मैंने 'हिन्द स्वराज' में जो विचार व्यक्त किये हैं,वे और भी ज्यादा मजबूत हो गये हैं। यदि समय की सुविधा हो तो मैं उन विचारों को युक्तियाँ और उदाहरण देकर और विस्तार दे सकता हूँ, लेकिन उनमें फेरफार करने का मुझे कोई कारण नहीं दिखता।"[17] वे 3 अप्रैल, 1924 को 'यंग इंडिया' में फिर लिखते है कि मेरे उन विचारों में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है।[18] वे 8 नवम्बर 1929 को सतीश चन्द्रहास गुप्त को पत्र में लिखते हैं, "निस्सन्देह 'हिन्द स्वराज' में एक शब्द भी ऐसा नहीं है कि जिसकी उपयुक्तता की पुष्टि न की जा सके। यदि मुझे उसे आज फिर से लिखना पड़े तो हो सकता है कि उसकी भाषा में बदलाव करूँ, लेकिन विचारों में कभी बदलाव नहीं कर सकता।19 गांधी इस सत्य को भी जान रहे थे कि 'हिन्द स्वराज' में व्यक्त सभी विचारों का आचरण तथा उन्हें क्रियान्वित करना सरल नहीं है, किन्तु इससे वे अपने विचारों को गलत मानने को तैयार नहीं थे। उन्होंने 'नवजीवन' (गुजराती) के 18 अप्रैल, 1926 के अंक में लिखा "हिन्द स्वराज' में मैंने जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हें मैं पूरी तरह व्यवहार में न ला सकता होऊँ तो मुझे भी ऐसा नहीं लगता कि इन विचारों को सही कहना गलत है।20 गाँधी इस प्रकार जीवन के अन्त तक 'हिन्द स्वराज' के

विचारों में पूरी आस्था रखते रहे तथा उसके असली मुद्दों में उन्हें कभी परिवर्तन करने की आवश्यकता महसूस नहीं हुई। वे ज्यादा-से-ज्यादा उसके अनुच्छेदों के क्रम में, उसके प्रस्तुतिकरण तथा भाषा में ही कुछ परिवर्तन की बात लिखते रहे, परन्तु इन्हें भी करने की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं हुई। उन्होंने लिखा कि चालीस वर्ष के बाद भी मेरे वही विचार हैं जो उस वक्त थे और मेरी कलम कभी 'दुरुस्ती' के लिए तैयार नहीं हुई।[21]

गांधी के इस वक्तव्य की परीक्षा भी आवश्यक है कि गांधी ने 'हिन्द स्वराज' की मूल पांडुलिपि, अर्थात प्रथम संस्करण के पाठ में कुछ भी परिवर्तन नहीं किया? तथ्य इसके विपरीत हैं, चाहे ये परिवर्तन-संशोधन बहुत ही मामूली और नगण्य ही हैं, परन्तु इससे पूर्व यह देखना-परखना उचित होगा कि गांधी के ऐसे कौन-से कतिपय विचार है जिनके प्रति उनका अटूट विश्वास बना रहता है। 'हिन्द स्वराज' में गाँधी ने जीवन के विविध पक्षों पर तथा अपने जीवन-दर्शन पर विचार व्यक्त किये हैं। अतः उनके कुछ मूलभूत विचारों पर उनके असन्दिग्ध विश्वास को देखना उचित होगा। 'हिन्द स्वराज' के गुजराती और अंग्रेजी संस्करणों के प्रकाशन के बाद उसकी काफी आलोचना हुई, लेकिन उसके साथ ही गांधी का विश्वास भी बढ़ता गया। गांधीने 2 मई, 1910 को गोपालकृष्ण गोखले को पत्र में लिखा कि मैं 'हिन्द स्वरारज' पर आपकी बहुमूल्य राय चाहता हूँ। इसकी काफी आलोचना हुई है, परन्तु मैं आपसे बहस नहीं करूँगा और जब आपसे मिलने का सौभाग्य होगा तो मैं उन कतिपय विचारों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा जिनमें मेरा दृढ़ विश्वास है और जो मुझढे बिल्कुल ठीक लगते हैं।[22] इन विचारों में पश्चिमी सभ्यता, स्वराज, पत्रकारिता, स्वदेशी आन्दोलन, अंग्रेजी की नकल, यन्त्रीकरण, हिन्दू-मुस्लिम एकता, सत्याग्रह, देश-प्रेम, आत्मबल, अहिंसा, मैकाले की शिक्षा, भाषा आदि पर व्यक्त विचारों में उनका आस्था-विश्वास बना रहता है और वे जीवन-पर्यन्त यथावसर इसका उल्लेख करते चलते हैं। ये सभी विषय उस गांधी-दर्शन के अंग हैं जिसे गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में रूप दिया और विकसित किया तथा जिसका भारत आकर उन्होंने अपने स्वाधीनता-संग्राम में भरपूर प्रयोग किया। गांधी के इस चिन्तर-दर्शन में असहयोग, रचनात्मक कार्यक्रम, ग्राम-विकास, चरखा और खादी एवं हरिजनोद्धार आदि के कार्यक्रम भी जुड़े और 'भारत छोड़ो' जैसा राष्ट्रव्यापी आन्दोलन भी आरम्भ किया, किन्तु 'हिन्द स्वराज' के गांधी और उनका जीवन-दर्शन सर्वत्र पूरे विश्वास और दृढ़ता के साथ मिलता है। 'हिन्द स्वराज' के गांधी भारत के कार्यकाल में बहुत बड़ी मात्रा में वैसे ही गांधी बने रहते हैं।

गांधी ने बार-बार यह लिखा है और कहा है कि वे 'हिन्द स्वराज' के पाठ और विचारों में कोई परिवर्तन नहीं करेंगे, क्योंकि उनसे उनकी पूरी सहमति है, किन्तु कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ गांधी ने परिवर्तन किये और इन परिवर्तनो की सत्यता को भी

स्वीकार किया। 'हिन्द स्वराज' में गांधी ने 'इंग्लैंड की हालत' शीर्षक पाँचवें परिच्छेद में ब्रिटिश पार्लियामेंट को 'बेसवा' (वेश्या) कहा था। इस पर एक अंग्रेज महिला मित्र ने इस पर आपत्ति की और गांधी ने उसे सुधारने का वचन दिया। गांधी ने इस सम्बन्ध में लिखा, "इस समय इस पुस्तक को इसी रूप में प्रकाशित करना मैं आवश्यक समझता हूँ, परन्तु यदि इसमें मुझे फिर भी सुधार करना हो, तो मैं एक शब्द सुधारना चाहूँगा। एक अंग्रेज महिला मित्र को मैंने वह शब्द बदलने का वचन दिया है। पार्लियामेंट को मैंने वेश्या कहा है। यह शब्द उन बहन को पसन्द नहीं है। उनके कोमल हृदय को इस शब्द के ग्राम्य भाव से दुःख पहुँचा है।"[23] गांधी ने 'हिन्द स्वराज' में एक स्थान पर असम के लोगों को पिंडारियों और दूसरी जंगली जातियों के साथ रखा था, क्योंकि सन् 1890 में मणिपुर की चढ़ाई का वृत्तान्त पढ़ने पर उनकी यही धारणा बनी थी। वे यही समझते रहे कि असम के लोग 'असभ्य और जंगली' हैं, किन्तु असमियों को यह बात अखरी और हाकिमों ने भी उस वाक्य का खूब दुरुपयोग किया। गांधी ने अपनी इस धारणा का संशोधन किया और अगस्त 1921 में अपनी असम यात्रा के समय असम के लोगों से माफी माँगी। गांधी ने 1 सितम्बर, 1921 को 'यंग इंडिया' में लिखा, "मैंने सुना है कि कुछ सरकारी अफसरों ने मेरी एक भूल का उपयोग किया है जो मैंने 'हिन्द स्वराज' नामक पुस्तिका में की थी; उसमें एक जगह मैंने असमियों की गिनती पिंडारियों और दूसरी जंगली जातियों के साथ की है। मैं जनता के सामने इस भूल को स्वीकार कर चुका हूँ और मैंने उसमें सुधार कर लिया है। असम की महान जनता के प्रति मेरा यह घोर अन्याय था; वे निश्चय ही सब प्रकार से भारत के दूसरे भागों जितने ही सभ्य हैं।"[24] गांधी ने अपने 'असम के अनुभव-1' में भी लिखा कि मैंने सभा में सबसे पहले अपनी भूल के लिए माफी माँगी और लिखा कि असम के लोगों को जंगली कौन कह सकता है? कहने वाला ही मुझ जैसा जंगली होना चाहिए।[25] गांधी की ऐसी ही भूल को सुधारने की तत्परता तथा विचार में हुए परिवर्तन को लिपिबद्ध करने में निस्संकोचता दिखाई देती है। गांधी ने 'हिन्द स्वराज' में मुम्बई की मिलों में मजदूरों की दुर्दशा को देखकर ब्रिटेन में बने कपड़ों के उपयोग का समर्थन किया था। गांधी ने लिखा था "हम हिन्दुस्तान में मिलें स्थापित करें, उसके बजाय हमारा भला इसी में है कि हम मैनचेस्टर को और भी रुपये भेजकर उसका सड़ा हुआ कपड़ा काम में लें, क्योंकि उसका कपड़ा काम में लेने से सिर्फ हमारे पैसे ही जाएँगे। हिन्दुस्तान में अगर हम मैनचेस्टर कायम करेंगे तो पैसा हिन्दुस्तान में ही रहेगा, लेकिन वह पैसा हमारा खून चूसेगा, क्योंकि वह हमारी नीति को बिल्कुल खत्म कर देगा।"[26] गांधी ने कुछ वर्ष के बाद इस नीति में परिवर्तन किया और वर्ष 1921 में 'हिन्द स्वराज' के हिन्दी अनुवाद की प्रस्तावना में लिखा "मिलों के सम्बन्ध में मेरे विचारों में इतना परिवर्तन हुआ है कि हिन्दुस्तान की आज की हालत में मैनचेस्टर के कपड़े के बजाय हिन्दुस्तान की मिलों को प्रोत्साहन देकर भी अपनी जरूरत का कपड़ा

हमें अपने देश में ही पैदा कर लेना चाहिए।[27] गांधी के इस वैचारिक परिवर्तन पर कुछ पाठकों ने उसके कारण जानने की उत्सुकता व्यक्त की तो गांधी ने ऐसे एक पत्र का उत्तर 'नवजीवन' (गुजराती) के 12 सितम्बर, 1926 के अंक में देते हुए लिखा कि 'हिन्द स्वराज' में जो कहा गया था वह केवल सिद्धान्ता पर अवलम्बित था, लेकिन आज की परिस्थितियों में उस पर अमल नहीं किया जा सकता। आज देश में बहुत-सी मिले हैं और उन्हें बन्द करने के लिए मिल मालिकों को समझाना असम्भव है। विदेशी कपड़े का बहिष्कार इष्ट और आवश्यक है। यह हमारा धर्म है—हमारा अधिकार है। धर्म में भी परिस्थितिवश परिवर्तन होता है, अतः मिलों को अनिवार्य समझकर हम इसे बरदाश्त करें।[28] गांधी ने विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार को अपने आन्दोलन का अंग बना लिया था, इस कारण वे सारी बुराइयों के बावजूद हिन्दुस्तानी मिलों के अस्तित्व को ठुकरा नहीं सकते थे।

गांधी के 'हिन्द स्वराज' में व्यक्त विचारों के विरोध तथा आलोचना एवं उनकी अनुपयुक्तता तथा अव्यावहारिक होने की आवाज बराबर उठती रही। गांधी ने अपनी पुस्तक से देश-विदेश में एक हलचल उत्पन्न कर दी थी। 'हिन्द स्वराज' पहले गुजराती में, फिर अंग्रेजी में और उसके बाद हिन्दी में आने तथा उसके उपरान्त अन्य भाषाओं में प्रकाशित होने पर उसका एक व्यापक पाठक वर्ग बन गया था जो उसके विरोध एवं समर्थन में बँटता दिखाई देता था। गांधी को अनेक बार ऐसे पाठकों, पत्रकारों, नेताओं, विचारकों आदि का सामना करना पड़ा जो उसके विचारों को चुनौती देने और उनसे प्रश्न करने के लिए उनके सामने खड़े थे। देश-विदेश के क्रान्तिकारियों और हिंसक आतंकवादियों के विचारो से तो गांधी की सीधी टक्कर थी। गांधी अहिंसा, सत्याग्रह और आत्मबल के साथ थे और क्रान्तिकारी हिंसा और आतंक के। गांधी क्रान्तिकारियों की वीरता और आत्म-त्याग के प्रशंसक थे, किन्तु वे उन्हें अहिंसा के रूप में उत्तम विचार देना चाहते थे। उन्होंने 7 मई, 1925 को 'यंग इंडिया' में लिखा, "वीरता और आत्म-त्याग का अर्थ किसी को मार डालना नहीं है। ये क्रान्तिकारी महाशय याद रखें कि 'हिन्द स्वराज' नामक पुस्तिका जैसा कि उस पुस्तिका लिखने का अभिप्राय यह था कि क्रान्तिकारी की ही दलीलों और तरीकों के उत्तर में, पुस्तक लिखने का अभिप्राय यह था कि क्रान्तिकारी को उस चीज से जो उनके पास है, कहीं अधिक उत्तम वस्तु दी जाए और जिससे उनके अन्दर की तमाम वीरता और आत्म-त्याग के भाव भी बने रहें। मैं क्रान्तिकारियों को केवल इसलिए अज्ञानी नहीं कहता कि मेरे साधनों को नहीं समझते या उनकी कदर नहीं करते, बल्कि इसलिए कि वे मुझे युद्धकला के ज्ञाता भी प्रतीत नहीं होते।"[29] गांधी का यह तर्क बहुत संगत नहीं लगता कि वे अहिंसक सत्याग्रही होकर भी क्रान्तिकारियों से अधिक युद्धकला को समझते थे और क्रान्तिकारियों के युद्ध-कौशल का सही मूल्यांकन कर सकते थे। गांधी के कुछ अन्य विचारों का भी विरोध हुआ और उन्हें अपनी स्थिति स्पष्ट करनी पड़ी।

गांधी ने 'हिन्द स्वराज' में डॉक्टरों की कटु आलोचना की थी। गांधी स्वयं डॉक्टर बनकर कौम की सेवा करना चाहते थे, किन्तु वे इस मोह से मुक्त हुए और पाया कि डॉक्टर परोपकार नहीं करते, धर्म भ्रष्ट करते हैं, अनीति बढ़ाते हैं और लोगों को ठगते हैं तथा अंग्रेजी या यूरोपियन डॉक्टरी सीखकर बनने वाले डॉक्टर तो गुलामी की गाँठ को मजबूत बनाते हैं,[30] किन्तु गांधी के जीवन में ऐसे अवसर आये जब वे बीमार हुए और उन्हें ऐसे ही डॉक्टरों से इलाज कराना पड़ा। गांधी को अपने विचारों के प्रतिकूल इस आचरण का उत्तर देना पड़ा। उन्होंने 3 अप्रैल, 1924 को 'यंग इंडिया' में लिखा, "जब मैंने उक्त पुस्तक (हिन्द स्वराज) लिखी थी, तब मेरी मैत्री बड़े-बड़े डॉक्टरों से थी और जरूरत के वक्त मैं उनकी मदद लेने में बिल्कुल नहीं हिचकिचाता था। यह बात लेखक की राय में मेरे औषधोपचार सम्बन्धी विचारों के खिलाफ है। कितने ही मित्रों ने मुझसे साफ-साफ ऐसा कहा है। मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ, अर्थात् यह स्वीकार करता हूँ कि मैं पूर्णपुरुष नहीं हूँ। दुर्भाग्य से अभी मुझमें बहुत कमियाँ हैं।"[31] इस प्रकार - गांधी स्वयं ही अपने विचारों को आचरण में नहीं उतार पाते और उसका कोई बहुत सटीक उत्तर भी नहीं दे पाते। वे 'हिन्द स्वराज' में व्यक्त विचारों को 'आदर्श स्थिति' कहकर आगे बढ़ जाते हैं, लेकिन प्रश्न यह है कि जब गांधी ही उन्हें व्यवहार में नहीं उतार पाते तो दूसरे हिन्दवासियों से क्या आशा की जा सकती है? गांधी से उन्हें व्यवहार में नहीं उतार पाते तो दूसरे हिन्दवासियों से क्या आशा की जा सकती है? गांधी से एक पाठक ने पूछा कि जब वे 'हिन्द स्वराज' में बताये अपने सिद्धान्तों का पालन करने में खुद ही असमर्थ हैं, तो उन्हें अब भी उन सिद्धान्तों पर आग्रह क्यों करना चाहिए? गांधी इसका भी कोई तर्कसंगत उत्तर नहीं देते और उन्होंने इस पाठक को 'नवजीवन' (गुजराती) 18 अप्रैल, 1926 के अंक में उत्तर देते हुए लिखा "हिन्द स्वराज में मैंने जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हें मैं पूरी तरह व्यवहार में न ला सका होऊँ तो भी मुझे ऐसा नहीं लगता कि इन विचारों को सही गहना गलत है।"[32] जब विचारों का जन्मदाता ही अपने विचारों को अव्यावहारिक मानता है तो उनके सही या गलत होने का प्रश्न ही निरर्थक है।

'हिन्द स्वराज' में गांधी यान्त्रिक सभ्यता और उसके रेल, कल-कारखाने आदि उपकरणों की कटु आलोचना की। उन्होंने लिखा कि यन्त्र तो साँप का ऐसा बिल है, जिसमें एक नहीं बल्कि सैकड़ों साँप होते हैं। रेल, ट्राम, कारखाने आदि सभी ने हमारा नाश किया है। इसलिए उन पर हमारी 'जहरीली नजर' पड़ेगी तो आखिर वे जाएँगे ही।[33] गांधी के इन विचारों से यह प्रश्न उठता कि क्या गांधी रेल, भाप से चलने वाले जहाजों आदि जो आवागमन के तेज साधन हैं, वे क्या उसके खिलाफ हैं। गांधी ने श्रीमती केली के ऐसे ही प्रश्न के उत्तर में कहा था कि यह सच है और सच भी नहीं है। यह बात इस अर्थ में सच है कि आदर्श परिस्थितियों में हमें इन चीजों की आवश्यकता ही नहीं होगी और इस अर्थ में सच नहीं है कि आजकल इन चीजों से

अपने को अलग रखना कोई सरल काम नहीं है, पर क्या संसार यातायात के इन तेज चलने वाले साधनों की बदौलत कुछ अधिक सुखी हो पाया है और क्या ये साधन मनुष्य की आध्यात्मक प्रगति को सुगम बनाते हैं और क्या वे अन्ततोगत्वा उसमें रुकावट नहीं डालते? एक समय था जब हम एक घंटे में कुछ मील चलकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे। आज हम चाहते हैं कि हम एक घंटे में सैकड़ों मील की यात्रा कर लें। एक दिन ऐसा आएगा कि जब हम चाहेंगे कि अन्तरिक्ष में उड़ें। इसका परिणाम क्या होगा? अव्यवस्था। हम एक-दूसरे में टकराने लगेंगे, हमारा दम घुटने लगेगा और हम नष्ट हो जाएँगे।[34] गांधी के इन तर्कों में दुराग्रह एवं भावुकता अधिक है, अन्यथा मनुष्य विकास के साथ यातायात के तेज साधनों की खोज निरन्तर करता रहा है। बैलगाड़ी से घोड़े एवं घोड़ागाड़ी की यात्रा इसी का प्रमाण है। गांधी भी अपने इन विचारों की निरर्थकता समझ रहे थे, इस कारण वे यह कहने को विवश हुए कि रेल, मशीन आदि सभी रहेंगे पर शोषण के लिए नहीं, जनता की भलाई के लिए। 'हिन्द स्वराज' के विचारों के कारण देश में कुछ व्यक्ति और संस्थाएँ यह प्रचारित कर रही थीं कि देश में गांधीराज आने पर रेल, अस्पताल, मशीन, सेना, नौ-सेना आदि सभी का अस्तित्त्व समाप्त हो जाएगा। गांधी इस बात से परेशान थे कि 'हिन्द स्वराज' के कुछ विचारों को सन्दर्भ से काटकर उनकी आलोचना की जा रही है और उन्हें समाज के सामने विकृत रूप में रखा जा रहा है। गांधी के इन आरोपों का उत्तर देते हुए 'यंग इंडिया' के 26 जनवरी, 1921 के अंक में लिखा "पुस्तिका (हिन्द स्वराज) से कुछ उद्धरण देकर वर्तमान आन्दोलन को बदनाम करने का प्रयत्न हो रहा है। इन लोगों ने कहा है कि मैं कोई गहरी चाल चल रहा हूँ, भारत पर अपनी सन्क और खामखयालियाँ थोपने के लिए मौजूदा अशान्ति का लाभ उठा रहा हूँ और भारत को नुकसान पहुँचाकर धार्मिक प्रयोगों और परीक्षण कर रहा हूँ। इसके जवाब में सत्याग्रह एक बहुत ही ठोस और खरी वस्तु है, उसमें छिपाने और गुप्त जैसा कुछ भी नहीं। 'हिन्द स्वराज' में जीवन के जिन सिद्धान्तों का मैंने वर्णन किया है, उसके एक अंश पर आज केवल आचरण किया जा रहा है। अगर समूचे पर आचरण किया जाए तो उससे भी कोई खतरा नहीं है। ऐसी सूरत में लेखों से ऐसे अंश उद्धृत करके, जिनका देश के मौजूदा मसले से कोई भी ताल्लुक नहीं, लोगों को डराना उचित नहीं है।[35] गांधी अनुभव कर रहे थे कि उनके विचारों को सन्दर्भ से काट करके उनके प्रति अन्याय किया जा रहा है, इसलिए वे पाठकों पर छोड़ देते हैं कि वे खुद ही निर्णय करें कि उनका मन्तव्य क्या है?[36] वे मानते हैं कि 'हिन्द स्वराज' के सभी विचारों पर चलने का वे उपदेश नहीं दे रहे हैं,[37] परन्तु उनकी अपने विचारों के प्रति आस्था और विश्वास अटूट बना रहता है, चाहे वे अकेले ही उसे मानने वाले क्यों न रहें। 'हिन्द स्वराज' की रचना के लगभग 36 वर्ष के बाद 5 अक्टूबर, 1945 को उन्होंने पं. जवाहरलाल नेहरू को पत्र में लिखा, "'हिन्द स्वराज' में मैंने जो लिखा है उस

राज्य-पद्धति पर मैं बिल्कुल कायम हूँ। यह सिर्फ कहने की बात नहीं है, लेकिन जो चीज मैंने 1909 साल में लिखी है उसी चीज का सत्य मैंने अनुभव से आज तक पाया है। आखिर में मैं एक ही उसे मानने वाला रह जाऊँ, उसका मुझे जरा-सा भी दुःख न होगा, क्योंकि मैं जैसा सत्य पता हूँ, उसका मैं साक्षी बन जाता हूँ।"[38]

गांधी के अपने विचारों में अकेले पड़ जाने के सत्य की अनुभूति के बावजूद उनमें निर्भयता तथा दृढ़ता बनी रहती है और वे अपने विचारों के मार्ग पर चलने का संकल्प लेते हैं। उनमें अपने विचारों के प्रति दृढ़ता अपने उच्च एवं पवित्र उद्देश्य के कारण उत्पन्न होती है। गांधी का यह दृढ़ विश्वास था कि यदि 'हिन्द स्वराज' के अहिंसा दर्शन का पूर्णतः क्रियान्वयन हो तो सिर्फ एक ही दिन में भारत में स्वराज कायम हो जाए।[39] यह गांधी का अतिविश्वास था, परन्तु इसमें देश की स्वाधीनता का पवित्रतम एवं आत्मिक मनोभाव था। उसमें केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता की ही कामना नहीं थी, बल्कि उनकी स्वराज कल्पना में देश की संस्कृति, धर्म, नीति, दर्शन, ग्राम्यता, शिक्षा, भाषा, जीवन-दर्शन, समाज, अस्तित्व-बोध आदि की संश्लिष्ट चेतना थी जो गांधी ने समय-समय पर अपने वक्तव्यों, लेखों, पत्रों आदि के द्वारा अभिव्यक्त की है। 'हिन्द स्वराज' को अधिकांश विचारकों ने उसे एक राजनीतिक पुस्तक के रूप में देखा है। अंग्रेज शासकों ने तो उसे इसी रूप में समझकर उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, परन्तु गांधी तो 'हिन्द स्वराज' को 'धर्मराज्य अथवा रामराज्य' दका पर्याय मानते हैं। वे वर्ष 1926 में लिखते हैं, "यह पुस्तक केवल राजनीतिक पुस्तक नहीं है। इसमें मैंने राजनीति के बहाने धर्म की कुछ झाँकी दिखाने की चेष्टा की है। 'हिन्द स्वराज' का अर्थ क्या है? धर्मराज्य अथवा रामराज्य। मैंने पुरुषों की जितनी सभाओं में भाषण दिया है, उतनी ही स्त्रियों की सभाओं में भी दिये हैं। उनमें मैंने स्वराज शब्द का नहीं, अपितु रामराज्य शब्द का प्रयोग किया है।[40] इस प्रकार 'हिन्द स्वराज' की विचार-भूमि में पश्चिमी विचारकों की चाहे कितनी ही प्रेरणा-भूमिका रही हो, उसकी आधार-भूमि तो प्राचीन भारत की धर्मराज्य की धारणा ही रही है। गांधी ने अपने इस उद्देश्य को 'हिन्द स्वराज' के साथ उसके बाद के जीवन में अनेक बार उसे भिन्न-भिन्न रूप तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों को उद्घाटित किया है। गांधी बार-बार 'हिन्द स्वराज' के उद्देश्यों की चर्चा करते हैं, किन्तु वे चाहे हमें भिन्न-भिन्न दिखाई दें, लेकिन वे उनके 'हिन्द स्वराज' अर्थात् धर्मराज्य अर्थात् रामराज्य के ही अंग हैं। गांधी द्वारा 'हिन्द स्वराज' के प्रस्तुत इन उद्देश्यों की एक झलक यहाँ प्रस्तुत हैं—

1. "मेरा उद्देश्य सिर्फ देश की सेवा करने, सत्य को ढूँढ़ने और उसके अनुसार आचरण करने का है। इसलिए यदि मेरे विचार गलत सिद्ध हों तो मैं उनसे चिपटे रहने का आग्रह नहीं करूँगा और यदि वे सही निकले तो देशहित के अनुरोध से मैं सामान्यतः यह इच्छा रखूँगा कि दूसरे लोग उनके अनुसार आचरण करें।[41]

2. "हमें अंग्रेजी राज्य से नहीं, बल्कि पाश्चात्य सभ्यता से बचना है। यह हमने 'हिन्द स्वराज' में देखा है।"[42]
3. "मेरे देशवासी आधुनिक सभ्यता की बुराइयों के लिए अंग्रेज जाति को दोषी ठहराते हैं। इसलिए वे समझते हैं कि अंग्रेज बुरे लोग हैं, न कि वह सभ्यता जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए वे मानते हैं कि अंग्रेजों को देश से निकालने के लिए उन्हें आधुनिक सभ्यता और हिंसा के आधुनिक तरीके अपनाने चाहिए। 'हिन्द स्वराज' यह दिखाने के लिए लिखा गया है कि यह आत्मघाती नीति पर चलना होगा। उसका उद्देश्य यह दिखाना भी है कि अगरवे अपनी गौरवमयी सभ्यता का ही पुनः अनुसरण करेंगे तो अंग्रेज या तो उसको स्वीकार कर लेंगे और भारतीय बन जाएँगे या भारत से उनका अधिकार ही उठ जाएगा।"[43]
4. 'हिन्द स्वराज' (गुजराती) के मई, 1914 में प्रकाशित दूसरे संस्करण की प्रस्तावना में गांधी ने लिखा है कि 'हिन्द स्वराज' किसी भी स्थिति और किसी भी समय शरीर बल का आश्रय लेने की सीख नहीं देता, बल्कि अपना साध्य आत्मबल से ही प्राप्त करना चाहता है। उसमें अंग्रेजों के प्रति तिरस्कार का भाव, हथियारों से लड़ना तथा उन्हें किसी तरह मारकर भारत से निकालने का कोई विचार नहीं है, क्योंकि ये 'हिन्द स्वराज' लिखने बिल्कुल हेतु नहीं हैं। मैं तो यूरोप की आधुनिकता सभ्यता का शत्रु हूँ और 'हिन्द स्वराज' में मैंने इसी विचार को निरूपित किया है और यह बताया है कि भारत की दुर्दशा के लिए अंग्रेज नहीं, बल्कि हम लोग ही दोषी हैं जिन्होंने आधुनिक सभ्यता स्वीकार कर ली है। इस सभ्यता को छोड़कर हम सच्ची धर्मनीति से युक्त अपनी प्राचीन सभ्यता पुनः अपना लें तो भारत आज ही मुक्त हो सकता है। 'हिन्द स्वराज' को समझने की कुंजी इस बात में है कि हमें दुनियावी प्रवृत्ति से निवृत्त होकर धार्मिक जीवन ग्रहण करना चाहिए। ऐसे जीवन में काले या गोरे किसी भी मनुष्य के प्रति हिंसक व्यवहार के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता।44
5. "यह नफरत के बदले प्यार का पाठ सिखाती है। "यह ('हिन्द स्वराज') हिंसा पर आत्म-बलिदान को तरजीह देती है। यह पशुबल पर आत्मबल से विजय पाने का रास्ता दिखाती है।"[45]
6. 'गीता', 'रामायण', 'हिन्द स्वराज' से हमें जो बात सीखनी है, वह तो परमार्थ ही हैं। बालकों को भी हमें यही सिखाना है।"[46]

गांधी के कर्तव्यों के उपर्युक्त कुछ उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि 'हिन्द स्वराज' में हिन्दुस्तान के स्वराज्य का स्वप्न विद्यमान है। गांधी कैसा स्वराज्य चाहते हैं, वर्तमान में हिन्दुस्तान के सामने क्या-क्या समस्याएँ हैं, पश्चिम से आने वाली आधुनिकता ने

तथा अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने हिन्दुस्तान को कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे अपने धर्म-नीति, सत्य, अहिंसापूर्ण जीवन से पथभ्रष्ट किया है और उसे अपनी राजनीतिक, मानसिक, यान्त्रिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि दासताओं से मुक्त होकर किस रूप में स्वाधीन भारत की रचना करनी है, यह सब 'हिन्द स्वराज' के लक्ष्य में समाहित है। 'हिन्द स्वराज' बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में आधुनिक भारतीयता की खोज है, जैसा कि उस काल-खड में अन्य कुछ भारतीय अपनी-अपनी दृष्टि से कर रहे थे। यह खोज भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों को अपने विचार-पथ में रखकर ही हो सकती थी। गांधी अन्य विचारकों से इस रूप में भिन्न थे कि वे हिन्दुस्तान में स्वराज्य चाहते थे और फिर उसके लिए रामराज्य की संकल्पना करते थे। वास्तव में, 'हिन्द स्वराज' साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवादी चेतना से मुक्ति और भारतीय आत्मा की तलाश का महाग्रन्थ है। स्वतन्त्र भारत में भारतीय आत्मा की रूप-रचना के प्रायः सभी प्रश्न गांधी के सामने हैं, जिनमें उस समय का भारत घोर अन्तर्द्वन्द्व से गुजर रहा था। गांधी 'हिन्द स्वराज' से भारत के साथ विश्व को बदल देने का महान स्वप्न देखते हैं और वे पूरी तरह ईमानदारी से पश्चिम सभ्यता की घोर विनाशकारिता का उद्‌घाटन करने के साथ भारत की धर्म-नीतिपूर्ण संस्कृति की श्रेष्ठता को स्थापित करते हैं और उसे ही विश्व मानवीय समाज के लिए उपयोगी और कल्याणकारी मानते हैं। 'आर्थन पाथ' (सितम्बर 1938, 'हिन्द स्वराज' पर प्रकाशित विशेषांक) में रोराल्ड हर्ड ने लिखा था कि 'हिन्द स्वराज' रूसो के 'सोशल कांट्रेक्ट' और कार्ल मार्क्स के 'दास कैपिटल' से श्रेष्ठ है, क्योंकि यह युगान्त का नहीं, अपितु एक नयी व्यवस्था के आरम्भ का सूचक है।[47] गांधी के स्वप्न साम्राज्य में 'हिन्द स्वराज' की यह नयी व्यवस्था भारत के भावी जीवन के लिए सर्वोत्तम आधुनिक संहिता थी, किन्तु यह गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है कि वह पराधीन और स्वतन्त्र भारत को रूसो और कार्ल मार्क्स के समान क्यों प्रभावित नहीं कर पायी? गांधी अपने जीवनकाल में 'हिन्द स्वराज' के सिकी एक विचार को भी पूर्ण रूप से क्रियान्वित नहीं कर पाये और उन्हें बार-बार स्वीकार करना पड़ा कि 'हिन्द स्वराज' के सभी विचार व्यावहारिक नहीं हैं और वे एक आदर्श स्थिति के सूचक हैं। गांधी अपने विचारों और क्रियात्मक गतिविधियों से 'हिन्द स्वराज' के विचारों की सत्यता का अनुभव करते रहे, किन्तु वे अपने अलावा उसी रूप से निष्ठावान एवं समर्पित किसी दूसरे व्यक्ति को अपना अनुयायी न बना सके और इस प्रकार 'हिन्द स्वराज' एक कल्पना, एक स्वप्न और एक आदर्श बनकर रह गया। यह गांधी की असफलता नहीं थी, यह तत्कालीन नेताओं, लेखकों तथा समाज की असफलता थी जिसने 'हिन्द स्वराज' के मर्म को नहीं समझा और स्वतन्त्र भारत में पं. जवाहरलाल नेहरू ने 'हिन्द स्वराज' के ठीक विपरीत पश्चिम के औद्योगिककरण, मशीनरीकरण और सांस्कृतिक आँधी में गांधी की भारतीय चेतना और 'हिन्द स्वराज' की भारतीयता को बहने दिया और नये भारत में उसे अव्यावहारि, अनावश्यक तथा बहिष्कृत करके

विकास के व्यापक रंगमंच से गायब कर दिया। 'हिन्द स्वराज' की त्रासदी यह है कि उसका रचनाकार अकेला ही चलने को विवश हुआ, परन्तु लगभग एक शताब्दी के बाद, विश्व की वर्तमान परिस्थितियों में 'हिन्द स्वराज' के विचार मानवीय सृष्टि के लिए कितने उपयोगी और आवश्यक हैं, उसे सरलता से समझा जा सकता है। 'हिन्द स्वराज' को यदि हम 'मानव स्वराज' के रूप में देखें, पढ़ें और क्रियान्वित करें तो वह विश्व मानव के सम्मुख उत्पन्न अस्तित्व और महा विनाश के भयावह संकट का समाधान कर सकता है। 'हिन्दू स्वराज' में गांधी का यही पक्ष है जिसका अनुपालन करके हम पृथ्वी पर जीव-सृष्टि की रक्षा कर सकते हैं। इक्कीसवीं सदी के मनुष्य के लिए 'हिन्द स्वराज' विश्व को एक अनुपम देन है, वह एक ऐसा मन्त्र है जिसे हृदयंगम करके हम निरन्तर, निष्कम्प, निर्भय, आत्मिक उन्नति के साथ भविष्य के पथ पर चलते रह सकते हैं। इसे जितनी जल्दी समझा जाए, उतना ही विश्व के लिए कल्याणकारी होगा।

सन्दर्भ-संकेत

1. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-10, पृ. 194
2. "इसके जवाब में (जब्ती के) मैंने उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। मैंने सोचा कि इस पुस्तक के विषय की जानकारी अपने अंग्रेज मित्रों को कराना मेरा कर्तव्य है।" गांधी - 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड-19, पृ. 283, 'यंग इंडिया', 21 जनवरी 1921 से है।
3. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-10, पृ. 203-204; यह भूमिका 'इंडियन ओपिनियन' (अंग्रेजी) के 2 अप्रैल 1910 में छपी थी।
4. वही, पृ. 2621
5. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खंड-32, पृ. 485; वर्ष 1926 के विचारों से।
6. वही, खंड-10, पृ. 256; 2 मई 1910 के लेख से।
7. वही, खंड-10, पृ. 475-67; 'इंडिया', 22 अक्टूबर 1910 में प्रकाशित।
8. वही, खंड-101
9. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-19, पृ. 2821
10. वही, खंड-9, पृ. 301
11. वही, पृ. 309; 'इंडियन ओपिनियन' (गुजराती), 21 अगस्त 1909 में प्रकाशित।
12. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-71, पृ. 115
13. वही, खंड-67, पृ. 191; 'आर्यन पाथ' को सितम्बर 1938 को दिये सन्देश से।
14. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-71, पृ. 275
15. वही, खंड-10, पृ. 2053 'इंडियन ओपिनियन', 2 अप्रैल 1910
16. वही, खंड-10, पृ. 203-204

17. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-12, पृ. 402
18. वही, खंड-23, पृ. 371
19. वही, खंड-42, पृ. 134
20. वही, खंड-30, पृ. 346
21. वही, खंड-69, पृ. 221 तथा खंड-87, पृ. 371
22. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-10, पृ. 256
23. 'हिन्द स्वराज', संस्करा 2004, पृ. 88
24. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-21, पृ. 29
25. वही, पृ. 53-54
26. 'हिन्द स्वराज', संस्करण-2004, पृ. 76
27. वही, पृ. 88
28. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-31, पृ. 415-16
29. वही, खंड-27, पृ.49
30. 'हिन्द स्वराज', संस्करण 2004, पृ. 40-41
31. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-23, पृ. 371-72
32. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-30, पृ. 346
33. 'हिन्द स्वराज', संस्करण-2004, पृ. 77-79
34. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-29, पृ. 407; 'यंग इंडिया', 2 जनवरी 1926 में प्रकाशित भेंट : लैंज लॉथ और केली से' से।
35. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-19, पृ. 283-84
36. वही, खंड-54, पृ. 282-83
37. वही, खंड-23, पृ. 40
38. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-81, पृ. 344
39. वही, खंड-19, पृ. 283; 'यंग इंडिया', 26 जनवरी 1921 से
40. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-32, पृ. 485
41. वही, खंड-10, पृ.7; 'हिन्द स्वराज' (गुजराती) के प्रथम संस्करण की प्रस्तावना से, प्रस्तावना पर 22 नवम्बर 1909 की तिथि मुद्रित है।
42. वही, खंड-10, पृ. 142; 'इंडियन ओपिनियन', 22 जनवरी 1910 से
43. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-10, पृ. 204; 20 मार्च 1910 को लिखी 'इंडियन होमरूल' की भूमिका से।
44. वही, खंड-12, पृ. 402-03
45. वही, खड-19, पृ. 283; 'यंग इंडिया', 26 जनवरी 1921 से
46. वही, खंड-32, पृ. 493; वर्ष 1926 में एक प्रार्थना सभा में दिये वक्तव्य से
47. 'सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय', खंड-67, पृ.191-92

हिन्दी साहित्य में पर्यावरण-चेतना

डॉ. दामोदर खड़से

कभी-कभी लगता रहा मुझे
समय कैसे कटेगा जिन्दगी का
जब होगा नहीं कोई फूल
बटेगी नहीं कोई नदी
पहाड़ हो जाएँगे निर्वसन
मौसम में न होगा कोई त्योहार
हवाओं में होगी नहीं गन्ध
समुद्र होगा खोया-खोया उदास
शामें गुमसुम-गुमसुम
और सुबह में न कोई उल्लास
कैसे कटेगा तब
समय जिन्दगी का...?

मानव जीवन प्रकृति के तमाम आवरणों से घिरा है, ढंका है। चारों ओर की हरियाली पहाड़, नदी, झरने, ताल-तलैया, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, फूल-पत्ते और अद्‌भुत गन्ध...इन सबसे मनुष्य आच्छादित है, ढंका है, जिसका अर्थ है 'अच्छी तरह' और आवरण यानी ढँकना...अर्थात् आसपास को अच्छी तरह ढँकना। मनुष्य का शरीर पृथ्वी, जल, पावक, गगन और समीर से बना है। इसे जीवित रखने के लिए स्वच्छ हवा यानी समीर और साफ पानी अर्थात् जल की आवश्यकता होती है। पृथ्वी से उगने वाली श्रेष्ठ वनस्पतियाँ भी मनुष्य के लिए आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिस पाँच तत्वों से बना है,वे ही उसे जीवन्तता देने के लिए अपना योगदान देते हैं। इन्हीं आवरणों, आच्छादनों, घेरों में मनुष्य सुरक्षित है। यही प्रकृति पर्यावरण है। जल, थल,

*डॉ. दामोदर खड़से : बी-503-504 हाई क्लिस, कैलाश जीवन के पास, धायरी, पुणे-411041, damodarkhadse@gmail.com, मो. 9850088496

वायु में ही जीवन संरक्षित है। इसकी रक्षा से ही मनुष्य की रक्षा है। इसका सन्तुलन रखना ही जीवन की औषधि है। इसीलिए पर्यावरण की रक्षा करना मनुष्य का धर्म है, तभी वह निरामय जीवन पा सकता है।

मनुष्य अपने तात्कालिक सुख-भोग के लिए प्रकृति का, पर्यावरण का भयंकर दोहन करता आ रहा है। प्राकृतिक आपदाओं का रहस्य इन्हीं ध्वंस में है। प्रलय और भूकम्प, सुनामी और अकाल ऐसे ही ध्वंस से उत्पन्न विनाश हैं। हमारे पूर्वजों ने प्राचीन ग्रन्थों में पर्यावरण का महत्व इसीलिए समझाया था कि मनुष्य सचेत, सजग और प्रकृति के साथ समन्वय स्थापित कर जीवन-यात्रा करे। धार्मिक आवरण में मनुष्य के हित की बात की गई थी; जो पाँच पेड़ लगाएगा, वह नरक कभी नहीं जाएगा।' तब धर्म का कर्मकांड नहीं था। सही अर्थों में चीजों को महसूस किया जाता था। इसी तरह शव जलाने के बाद चार पेड़ लगाने की परम्परा थी और अपने स्वजन की शान्ति के लिए पेड़ों को पानी देने की सलाह थी। प्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण का सन्तुलन बनाये रखने के लिए यह परम्परा में शामिल किया गया।

मत्स्य पुराण में जो कहा गया है, वह भी पर्यावरण की चेतना का ही विशिष्ट सन्दर्भ है। जिसमें यह कहा गया कि दस कुएँ खोदने का पुण्य एक तालाब के निर्माण के बराबर है, दस तालाब-एक झील के और इस दस झील एक पुत्र के जैसा और दस गुणवान पुत्रों से जो यश अर्जित होगा, वह एक वृक्ष लगाने से होगा। वृक्ष का स्थान पर्यावरण में ही नहीं मनुष्य के जीवन में भी पुण्य अर्जित करने-सा रहा।

प्राचीन ग्रन्थों में संजोया गया दर्शन, व्यावहारिक बुनियाद पर आधारित था, जो व्यक्ति के, मानव समुदाय के क्रियाकलापों को अनुशासित करता रहा। पाँच महावृक्ष माने गए जो पीढ़ियों तक पर्यावरण के पर्याय रहे और परिवेश को शक्ति प्रदान करते हैं—वे हैं, बरगद, पीपल, नीम, आम और शीशम। बरगद में सबसे अधिक ऑक्सीजन होता है। ऐसा माना जाता है कि पीपल में देवता वास करते हैं, विशेषतः कृष्ण; इसलिए इसे काटा नहीं जाता। नीम के प्राकृतिक गुण सर्वविदित हैं। आम रसीला फल देता है।

पर्यावरण में वन का अत्यधिक महत्त्व है। सृष्टि के सन्तुलन के लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण भूभाग में 33% वन होना चाहिए। हमारे देश में सरकारी आँकड़ों के अनुसार 21% वन है, लेकिन प्रत्यक्षतः केवल 19% ही वन का हिस्सा है। कटते वन और घटती खनिज सम्पत्ति वातावरण को असन्तुलित करती जा रही है। प्रकृति और परिवेश बुरी तरह इसकी चपेट में हैं।

प्रकृति हमारे लिए सदैव आस्था और श्रद्धा का स्थान रही है। इसलिए ग्रन्थों में नदी, सागर, सूर्य, चन्द्र, जल और वायु को श्रद्धा का केन्द्र माना गया, उनकी पूजा की जाती रही। कल्पवृक्ष की कल्पना तो अभीष्ट प्राप्ति के लिए सर्वोच्च कल्पना है। जो साहित्य में विविध रूपों में आया है।

देश में बढ़ती जनसंख्या और घटते वनों के चलते पर्यावरण का सन्तुलन डगमगा गया। परिणामस्वरूप अकाल, तूफान, आँधी, तमाम बीमारियों ने आक्रमण शुरू किया। कहीं अतिवृष्टि से बाढ़ तो कहीं अनावृष्टि से रेगिस्तान बढ़ने लगे। वातावरण प्रदूषित होने लगा। प्रकृति पर यह मनुष्य का आघात था। परन्तु, अन्ततः प्रकृति का कोप मनुष्य को सहना ही पड़ता है।

संसार की हर गतिविधि की प्रतिछाया साहित्य में होती है। साहित्यकार की दृष्टि अपने परिवेश को शब्दबद्ध करने के लिए निरन्तर सजग रहती है। पर्यावरण भी साहित्यकार को प्रभावित करने लिए प्रेरक तत्व के रूप में काम करता है। हिन्दी साहित्य में पर्यावरण विषयक चेतना को व्यापक रूप से देखा जा सकता है।

मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में प्रकृति का वर्णन विलोभनीय है। वे कहते हैं—

'चारु चन्द्र की चंचल किरणें
खेल रही है जल-थल में
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है
अवनि और अंबर तल में!'

हिन्दी साहित्य में कई कवियों ने पर्यावरण, प्रकृति और अपने परिवेश को शब्दबद्ध किया है। सुमित्रानन्दन पन्त ने धरती को अपनी माँ के रूप में पाया। प्रकृति को केन्द्र में रखकर कविवर पन्त ने कई-कई रचनाएँ रचीं। वे प्रकृति को ममतामयी, स्नेहिल और दुलार देने वाली मानते-समझते हैं और अपनी सम्वेदनाएँ 'घोंसला' नामक कविता में अभिव्यक्त करते हैं। वे कहते हैं —

यहाँ मिली
माँ के आँचल छाँव
शाश्वत् स्नेह, निश्छल प्यार
देवकी नहीं मिली तो क्या?
प्रकृति रही सदा उनके साथ
यशोदा बनकर
बाँहों के हिंडोले पर
झुलती रही उनक बालपन
सहलाती रही उनके कोमल गात
आहत मन को देती रही सहारा,
बहलाती रही उसका बालपन
दूर भगाती रही अकेलापन
प्रकृति को तन-मन कर अर्पण
जिए सदा प्रकृति दर्पण-बन!'

पन्तजी के समकालीन कई कवियों ने पर्यावरण को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। प्रकृति के विभिन्न रूपों को आलम्बन बनाकर अपनी अनुभूतियों को शब्दबद्ध किया। प्रकृति ने उनकी रचनाओं को विविधताओं से लबालब किया। मनुष्य की विविध सम्वेदनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए प्रकृति ने प्रेरित किया। महादेवी अपनी कविता में कहती हैं–

कोकिल गान ऐसा राग! मधु की चिर प्रिया यह राग!
उठता मचल सिन्धु अतीत, लेकर सुप्त सुधि का ज्वर!

हिन्दी के कई महत्त्वपूर्ण रचनाकारों ने पर्यावरण को अपनी अभिव्यक्ति के केन्द्र में रखा। इनमें सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', जयशंकर प्रसाद, अज्ञेय आदि कवियों को देखा जा सकता है। 'निराला' अपनी 'बादल राग' कविता में किसानों की स्थिति की विवशता का उल्लेख करते हुए बादल से बरसने का निवेदन करने हैं–

'जीर्ण बहु है, शीर्ण शरीर तुझे बुलाता है कृषक अधीर
ऐ विपल्ब के वीर, चूस लिया है उसका सार
हाड़ मात्र ही है आधार, ऐ जीवन के पारावार।'

कई दशकों पहले निराला किसानों की त्रासदी को अपनी रचनाओं में समेटते रहे। प्रकृति से हार मानकर किसान बारिश की किस तरह बात जोहते है, इसका मार्मिक चित्रण 'बादल राग' में उकेरा गया है। बादल रूठ गए, किसान टूट गए, खेत सूख गए...इसके लिए जिम्मेदार कौन है। किसने पर्यावरण का गणित बिगाड़ा है? मनुष्य की भोगवादी प्रवृति ने वनों, पेड़ों, खजिन सम्पत्ति, नदियों का खुलकर दोहन किया, परिणाम स्वरूप प्रकृति की प्रवृति गड़बड़ा गई, मौसम अनुशासन भूल गए, वनस्पतियाँ निष्प्रभ हो गईं। पर्यावरण बहुत प्रभावित हुई। प्रकृति का स्वभाव बदल गया और अमजन प्रकृति के कोप का शिकार हो गया। तब जयशंकर प्रसाद कहते हैं–

प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ से नृत्य विकम्पित पद अपना
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होती जाती थी सपना।
वह विज्ञानमयी अभिलाषा, पंख लगाकर उड़ने की
जीवन की असीम आशाएँ कभी न नीचे मुड़ने की।'

मनुष्य ने जबसे अपने लाभ के लिए प्रकृति के साथ अन्याय किया है, प्राकृतिक वैविध्य पर भीषण आघात हुआ है। शान्ति प्रकृति में है। इसीलिए अज्ञेय कहते हैं–

'मैं सोते के साथ बहता हूँ
पक्षी के साथ गाता हूँ।'

अज्ञेय ने अपने गद्य-लेखन में भी प्रकृति के सान्निध्य की गहरी अनुभूतियें को व्यक्त किया है। 'कहाँ है द्वारका' के ललित लेखों में, स्मृति लेखों में, साथ ही, कथा-उपन्यासों में प्रकृति का चित्रण उभरकर आया है। नर्मदा प्रसाद उपाध्याय के लेख प्रकृति केन्द्रित हैं। श्रीराम परिहार के निबन्ध पर्यावरण केन्द्रित हैं। अमृतलाल बेगड़ नर्मदा की परिक्रमा करने वाले पर्यावरण विद् माने जाते हैं, जिन्होंने यात्रा-संस्मरणा का श्रेष्ठ साहित्य हिन्दी भाषा को प्रदान किया है। अनुपम मिश्र ने पूरा जीवन ही पर्यावरण चेतना को समर्पित किया और भरपूर लेखन किया। पानी के सम्बन्ध में कई लेखकों ने विभिन्न विधाओं में लिखा है। नन्द चतुर्वेदी का लेख 'पानी बीच मीन पियासी', विद्यानिवास मिश्र का लेख 'एक घूँट पानी' और 'ऐसे चलता था समाज का खेल' लेख अनुपम मिश्र का विशेष उल्लेखनीय लगता है।

आधुनिक कवियों ने पर्यावरण पर खूब लिखा है। लिखें भी क्यों नहीं! अब पर्यावरण का ह्रास मनुष्य की जीवन-यात्रा में एक चुनौती के रूप में उभरकर आ रहा है। प्लास्टिक का असीमित प्रयोग और पर्यावरण दूषित करने में बेहिचक कहीं भी फेंकने की आदत, इक्कीसवीं सदी के कचरे से नदी की साँसें फूलने लगी हैं। गाएँ शहरी इलाके में प्लास्टिक निगलकर अपने पेट को सेंध लगवाने में विवश हैं। नगरों में चौराहे, पर्यावरण की उल्टी गिनती गिनवाने के लिए ज्यों यहाँ-वहाँ प्लास्टिक से भरे कचरे की दुर्गन्ध फैला रहे हैं। इन्हीं कचरों के कारण अब मुम्बई जैसे महानगर के नाले बाढ़ फैलाने-पसारने को विवश हैं। सदियों से नहीं हुआ था, पर्यावरण को नेस्तानाबूत करने के कारण संकट के रूप में उभर रहा है। इसीलिए वीरेन्द्र मिश्र के गीत नदी के स्वास्थ्य की कामना करते हुए कहते हैं–

'जहाँ भी रस है, रूप है, तरंग है कोई
जहाँ भी अश्रु स्वेद का प्रसंग है कोई
वो अपनी धार में हर बन्दू को पिरोएगी
नदी के अंग कटेंगे तो नदी रोयेगी।
नदी को बहने दो।'

नदियों को बहने देने से कौन रोक रहा है? केवल मनुष्य का स्वार्थ, उसकी लिप्सा, भोग, परिग्रह और प्रकृति के प्रति निर्दयता। परिणाम स्वरूप मानव-जाति के सामने कई संकट गहराते जा रहे हैं। पर्यावरण का सन्तुलन गड़बड़ा गया है। फिर अभिशाप के रूप में भूस्खलन, बाढ़, सूखा, तूफान, सुनामी, फैलता रेगिस्तान लपलपाता हुआ विनाशलीला के रूप में उभर रहा है। वनों-जंगलों का ह्रास, पानी के स्तर का गिरता जाना, वन्य-प्राणियों की नस्लों का विलुप्त होना, वनस्पतियों का मुरझाना; ऐसा संकट है जो मनुष्य को कहीं का नहीं रहने देगा। इन सारी स्थितियों की प्रतिध्वनियाँ साहित्य में न उभरती तो ही आश्चर्य की बात थी। आधुनिक हिन्दी साहित्य में

पर्यावरण की चेतना को सघनता से प्रतिबिम्बित होते देखा जा सकता है। स्वार्थ का विद्रूप चेहरा, राजनीति की हिंसक आकांक्षा की शतरंज पर पर्यावरण को खींच लाया गया है। ऐसे विसंगत समय में साहित्यकार समाज को चेताने की कोशिश करता है।

डॉ. सुनील देवधर कहते हैं–

'चमकता रहा आफताब-सा सारा दिन
नदी खुद किनारों की प्यास हो गई।'

उधर डॉ. रामस्नेही लाल शर्मा यायावर 'बची कहाँ अब' में हालात बयान करते हैं–

'भीतर बाहर
बची कहाँ अब
हीरामन! हरियाली
हर मौसम को
पतझड़ से अब
है गहरा रिश्ता
पैनी आरी ने
पीपल का
बाँध दिया बस्ता!

परसों क्रूर कुल्हाड़ी आयी
पैने दाँत लिए
छीन ले गई
बाबा बरगद के
हाथों की थाली
बची कहाँ अब
हीरामन! हरियाली!!'

यही बात डॉ. अनिल कुमार की रचना से उभरती है–

'कहाँ बैठकर
इस गर्मी में
दुःख-सुख बाँटें।
वट, पीपल के
पेड़ आज
गमले में जीते
बौने होकर

सौ-सौ गम
रहते हैं पीते... ।'

प्रखर चिन्तक-सम्पादक श्री विश्वनाथ सचदेव 'आत्महन्ता' सोच के विरुद्ध में लिखते हैं', विज्ञान ने जहाँ हमारे लिए जीवन की सुविधाएँ जुटायी हैं, वही उनके अविवेकी उपयोग ने जीवन के लिए भी खतरा भी खड़ा कर दिया है। यह खतरा अटॉमिक एनर्जी वाला भी है और इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों से उपज रहे जहर का भी। कभी प्लास्टिक बनकर यह जहर जीवन को दूषित कर रहा है और कभी पर्यावरण को दूषित करके साँसों को जहरीली बनाता है। एक जहर और भी है, जिसके प्रति जागरूक होना हमारे अस्तित्व की शर्त बन गया है—अवैज्ञानिक सोच का जहर।

पर्यावरण को बचाये रखकर मनुष्य अपना जीवन सुरक्षित रख सकता है। प्रकृति के साथ खिलवाड़ बंद करना होगा। जनसंख्या के विस्तार के साथ शहर जमीन पर पसर रहे हैं और प्रकृति सिकुड़ रही है। वनों के विनाश के परिणामस्वरूप 1850 से 1950 के बीच लगभग 120 बिलियन टन कार्बन डाइऑक्सइड वातावरण में घुल गया है, पिछले सौ वर्षों में पृथ्वी का तापमान 0.74 डिग्री सेल्सियस औसत रूप से बढ़ रहा है। 2100 आते-आते तापमान 1.1 से 6.4 डिग्री सेल्सियस तक बढ़ सकता है। इस बढ़ते तापमान के कारण ग्लेशियरों के पिघलने से इस सदी के अन्त तक समुद्री जल स्तर 18 से 58 सेंटीमीटर तक बढ़ने की सम्भावना है। ग्लोबल वार्मिंग के दुष्प्रभाव से मौसम में अचानक परिवर्तन, गर्मी बढ़ना, प्राणियों की कई प्रजातियों का लुप्त होना सम्भावित है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की इंटर गवर्नमेंटल पैनल आन क्लाइमेंट चेंज (प्च्ब्ब्) के रिपोर्ट में गम्भीर खतरों की ओर संकेत किया गया है कि लगभग 3. 80 अरब लोगों को पानी उपलब्ध नहीं होगा। 6 करोड़ लोग भूख से मर जाएँगे। यदि कार्बन उत्सर्जन की वर्तमान मात्रा में कोई कमी नहीं आई तो समुद्र के जल-स्तर बढ़ने से 47 करोड़ से 76 करोड़ लोगों के मकान जलमग्न हो जाएँगे। इतना भयंकर विनाश केवल पर्यावरण की अनदेखी करने से हो जाएगा। इसलिए सुन्दरलाल बहुगुणा ने चिपको आन्दोलन की नींव रखी। इसे गम्भीरता से जारी रखकर पर्यावरण की रक्षा ही भावी मनुष्य का जीवन हो सकता है।

पिछले दिनों दिल्ली में चारों ओर बेमौसम कोहरे जैसे धुंध पसर गई और जन-जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। दरअसल पंजाब और हरियाणा में फसल कटाई के बाद बचे ठूँठ को जलाया गया, इससे इतना धुआँ हुआ कि पूरा परिवेश, प्रदूषण से सिहर उठा। डॉ. अमरीश सिन्हा ने 'दिल्ली में प्रलय बनता वायु प्रदूषण' नामक लेख में विस्तार से प्रदूषण के कारणों का जिक्र किया है और जानकारी दी है कि विश्व में हर वर्ष 70 लाख लोग वायु प्रदूषण से मरते हैं और इसमें सबसे बड़ी संख्या भारत में मरने वालों की हैं।

पर्यावरण की अनदेखी विनाश को निमन्त्रण है। साहित्यकार की सूक्ष्म दृष्टि इस आपदा को अनुभव करती है। साहित्य आनेवाले संकटों से आगाह करता है। प्रकृति का पुजारी साहित्यकार जन-मानस को प्रकृति की सुन्दरतम और भीषणतम प्रतिक्रियाओं के दृश्य दिखाता है। जो खुली आँख से परिस्थिति को देख सकते हैं वे साहित्य की चिन्ता को अनुभव कर सकते हैं। साथ ही, सुखद दृश्यों का आनन्द भी उठा सकते हैं। सूरजप्रसाद पचौरी ने ऐसा ही एक दृश्य शब्दबद्ध किया है–

'कल-कल धुन से झरने झरते
टप-टप करती बूँदें गिरतीं
सन-सन करती हवाएँ चलतीं
जैसे कानों में कुछ कहतीं।
ऊँचे-ऊँचे पेड़ विशाल
हरे-भरे और छायादार
कहीं पर बरगद कहीं पलाश
कहीं आँवला कहीं पर साज।
इनकी काया जो गह पाए
पूरेपन से प्रकृति सुख पाए
शीतल जल से प्यास बुझाए
कृत्रिमता से मुक्ति पाए।

साहित्यकार सम्भावनाओं में जीता है। समस्त उम्मीदों को वह कभी नहीं ओझल होने देता। तमाम विसंगतियों के बीच वह रामदरश मिश्र की 'आदत' में वह सहभागी होता है।

'मैंने अपने खुले आँगन में
यहाँ वहाँ फूल उगाए हैं
शायद उनकी भाषा, हवओं तक, पहुँचे
और हवाएँ दिशाओं तक...'

हिन्दी के साहित्यकारों ने पर्यावरण पर खूब लिखा है। हिन्दी कविता ने वातावरण, परिवेश और अपने जीवन को साहित्य में प्रतिबिम्बित किया है। विश्लेषण, सुझाव, पहल और सम्भावना की लय पिरोकर साहित्यकारों ने देश-काल में पर्यावरण चेतना पिरोने की सार्थक कोशिश की है। इसी कड़ी में राग तेलंग कहते हैं–उनकी 'एक पेड़' शीर्षक से कविता के कुछ अंश–

एक पेड़
'एक पौधा लगाना

कई परिन्दों के लिए
बसेरे का इन्तजाम करना है...

एक पेड़ को बचा लेने से
एक हो सकने वाला
जंगल भी बचा रह जाता है!'

कुँवर नारायण हिन्दी के श्रेष्ठतम कवियों में से एक हैं। उन्होने प्रकृति और मनुष्य के सम्बन्ध को बहुत सूक्ष्मता से छुआ है। कई बार वे मनुष्य की बात करते-करते प्रकृति हो जाते हैं और कई बार प्रकृति का मानवीयकरण कर उन्होंने दोनों के बीच की दूरियाँ ही काट डाली है। उनकी कविताओं में मनुष्य और प्रकृति इतनी बारीकी से घुल-मिल जाते हैं कि वे कविता के ताने-बाने बन जाते हैं। अलग-अलग उन्हें देखा ही नहीं जा सकता। वे अपनी कविता 'एक हरा जंगल' में कहते हैं–

'एक हरा जंगल धमनियों में जलता है।
तुम्हारे आँचल में आग...
चाहा हूँ झपटकर अलग कर दूँ तुम्हें
उन तमाम सन्दर्भों से जिनमें तुम बेचैन हो
और राख हो जाने से पहले ही
उस सारे दृश्य को बचाकर
किसी दूसरी दुनिया के अपने आविष्कार में शामिल कर लूँ
लपटें
एक नए तट की शीतल सदाशयता को छूकर लौट जाएँ।

रामकुमार आत्रेय ने पर्यावरण पर बहुत सार्थक रचनाएँ दी है। 'पेड़' पर उनकी कई कविताएँ है। बहुत छोटी कविता में वे कहते हैं–'अभी मैंने/पेड़ बनने के बारे में/सोचा ही था/कि लोग/कुल्हाड़ी लेकर आ गए!'

बलदेव वंशी ने पर्यावरण और मनुष्य के रिश्ते को बखूबी कहा है–

'धरती हमारी नाव है
लंबी यात्राओं पर निकले हैं
इसमें–
दो वृक्ष
दो नदियाँ
और दो व्यक्ति
कई-कई मोड़ पार कर आए...'

बद्री नारायण हमारे समय के कुशल चितेरे हैं। उन्होंने 'चिड़ियों के निष्कासन के खिलाफ एक बयान' रचा है। बहुत सुन्दर और अत्यन्त सटीक :

'कितनी तेजी से
कविताओं से चिड़ियाँ गायब होती गई हैं

कितनी तेजी से गायब होते गए हैं
कविताओं से पेड़
मैं हतप्रभ हूँ देखकर
कि कितनी तेजी से गायब हुए हैं कविताओं से
पोखर और तालाब
मैं आज तक नहीं समझ पाया!'

हमारे वर्तमान के प्रखर कवि लीलाधर मंडलोई, वनस्पति, पशु-पक्षी, उजाड़ धरती, हतप्रभ आकाश को देखकर अनायास ही कह उठते हैं—

'न कोई बादल अपना
नदी जो है तो यहाँ सूखती कराहती
बची-खुची चिड़ियों की बची-खुची आवाज
अन्तिम झरनों का सिसकता शोकगीत!'

हमारा समय पर्यावरण के असन्तुलन के दौर में है। ऋषि-मुनिया, वेद-पुराण, परम्परा-विरासत को भुलाकर मनुष्य ने पर्यावरण का निरन्तर ह्रास किया है। पेड़-पौधे, वनस्पति-औषधि, पशु-पक्षी, नदी-पहाड़, पृथ्वी-आकाश सभी उजड़ते दिखाई देते हैं। ऐसे में, मनुष्य की जीवनदायी शक्तियाँ भी मुरझा रही है। कवि एकान्त श्रीवास्तव की कविताओं में चिन्तित करने वाले भाव सहज देखे जा सकते हैं—उनका खिन्न मन विरासत को लेकर दुखी है—

'सूरज और चाँद को लग गया है ग्रहण
डालियों में धंस गए विष बुझे तीर
नदियों में घुल गया हवाओं का लहू
क्यों छोड़ जाऊँगा विरासत में आखिर
क्या छोड़ जाऊँगा!'

हमारी फिल्में हमारे अन्तर के गीत, लय, ताल-छन्द आदि में पिरोकर गुनगुनाती रहीं। एक समय था कि शायद फिल्मी गीतो में भी अपनी छाप छोड़ते और प्रकृति तथा मनुष्य को एकाकार होते देखते। गीत और संगीत का समन्वय सुन्दर प्रकृति-मनुष्य की अभिव्यक्ति का उदाहरण बन जाते—साहिर लुधियानवी इस कला में अत्यन्त निपुण लगते हैं। सीधी-सरल भाषा और स्वाभाविक बयान—

'पर्वतों के पेड़ों पर
साँझ का बसेरा है
सुरमई उजाला है
चम्पई अन्धेरा है!'

पर्यावरण का चिन्तन साहित्य की चेतना रही है। जो ह्रास मनुष्य ने प्रकृति का किया है, वह पृथ्वी और जीवन की अपूरणीय क्षति है। सत्ता के माध्यम से भी भरपूर दोहन किया गया। राजनीति का केन्द्र भी इस दोहन का भागीदार रहा है। इसलिए सुपरिचित रचनाकार कहते हैं—

'हुई प्यास अधमरी
काला पड़ा शरीर
दिल्ली के दरबार में
नदिया माँगे नीर...!'

यह तो स्पष्ट है कि आज पर्यावरण के विध्वंस में मनुष्य ने कोई कोर-कसर नहीं रख छोड़ी है। अपने पुरखों की विरासत को नजरअन्दाज किया है। इसलिए आनेवाली पीढ़ियाँ इसके दुष्परिणामों से अधिक प्रभावित होंगी। दरअसल, प्रकृति और मनुष्य का सहभाग, सहयोग और समन्वय ही पृथ्वी की भावी हरियाली के सूत्रधार होंगे। फिर साहित्यकार कहेगा—

मैंने एक पौधा लगाया
सींचता रहा उसे मैं रोज
दिन गिनने की तरह!
तुम तो आए नहीं—
पता नहीं क्यों?
पर पौधे पर
खिल आया एक फूल
बिलकुल तुम्हारी तरह!

बंगला नवजागरण का वैचारिक दर्शन

डॉ. भुवाल सिंह

नवजागरण अपनी मूल प्रकृति में 'मुक्ति का प्रकाश' है। इस मुक्ति के प्रकाश का उजाला समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व, न्याय, मानववाद आदि के रूप में फैला। उन्नीसवीं सदी में पूरे भारत में एक विशेष बौद्धिक चेतना एवं सांस्कृतिक उथल-पुथल दिखाई दी। इस काल में पूरे देश में मानवतावादी जीवनदृष्टि एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का प्रसार हुआ। आधुनिक पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव और विदेशी शक्ति (ब्रिटिश सत्ता) के हाथों पराजित होने की स्थिति ने बौद्धिक वर्ग में भी एक नई जागृति पैदा की। इसके परिणामस्वरूप अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक दुर्बलताओं को लेकर नए सिरे से चिन्तन प्रारम्भ हुआ। 19वीं सदी के भरत में जिस नवीन चेतना का उदय हो रहा था उसे कई नामों से सम्बोधित किया गया-रैनेसां, पुनर्जागरण, नवजागरण, पुनरूत्थान, प्रबोधन, नवोत्थान, समाज-सुधार आदि। प्रसिद्ध इतिहासकार बिपनचन्द्र के अनुसार—"ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार और इसके साथ औपनिवेशिक संस्कृति और विचारधारा के प्रचार-प्रसार की प्रतिक्रिया में यह लहर उतनी शुरू हुई थी। बाहरी संस्कृति के इस फैलाव से भारतीयों के लिए यह जरूरी हो गया था कि वे आत्मनिरीक्षण करें...हालाँकि औपनिवेशिक संस्कृति के खिलाफ यह प्रतिक्रिया हर जगह और हर समाज में अलग-अलग तरह की हुई, लेकिन एक बात हर जगह शिद्दद के साथ महसूस की गई कि सामाजिक-धार्मिक जीवन में सुधार अब जरूरी हो गया है। सुधार की इस प्रक्रिया को आमतौर पर नवजागरण कहा जाता है।"[1]

भारतीय नवजागरण की शुरुआत सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलनों से हुई। भारतीय नवजागरण ने राजनीतिक क्षेत्र में स्वाधीनता की भावना को केन्द्र में रखा। विचार स्वातन्त्र्य ही मनुष्य को मुक्त करता है। विचार से स्वतन्त्र मनुष्य ही स्वाधीन राष्ट्र के बारे में सोच सकता है। यह मुक्ति वैचारिक भाव से शुरू होकर स्वराज्य प्राप्ति

डॉ. भुवाल सिंह : असिस्टेंट प्रोफेसर, महर्षि वेदव्यास शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भखारा (धमतरी), छत्तीसगढ़, bhuwal.singhthakur@gmail.com, मो. 7509322425; 9479091195

के महत् उद्देश्य तक प्रसारित था। सामन्तवाद, साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद का विरोध, राष्ट्रीयता का विकास, साम्प्रदायिक सौहार्द, धर्मनिरपेक्षता, वैज्ञानिक चिन्तन आदि भारतीय नवजागरण की अन्य विशेषता हैं।

भारतीय नवजागरण की अभिव्यक्ति भारत के प्रत्येक क्षेत्र में देखी गई। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी निजी विशेषताएँ भी थी। ये सभी जागकरण के विविध स्वर भारतीय नवजागरण के व्यक्तित्व को आलोकित करते हैं। भारत का नवजागरण बंगाल से शुरू होता है। बंगाल से यह महाराष्ट्र, हिन्दी प्रदेश, गुजरात, दक्षिण भारत एवं अन्य प्रदेशों तक प्रसारित हुआ। प्रस्तुत आलेख में बंगला नवजागरण के वैचारिक दर्शन पर चर्चा की गई है।

बंगला नवजागरण

अन्य प्रान्तों की तुलना में बंगाल ब्रिटिश शासन के प्रभाव में सर्वप्रथम आया। बंगाल के नवजागरण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सुशोभन सरकार लिखते हैं—"ब्रिटिश शासन का प्रभाव, बुर्जुआ अर्थव्यवस्था एवं आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति का अनुभव सर्वप्रथम बंगाल में हआ। इसके फलस्वरूप वहाँ नवीन चेतना आई, जिसे साधारणतः बंगाल का नवजागरण कहा जाता है। लगभग एक शताब्दी तक बदलती हुई आधुनिक दुनिया के प्रति सचेतन जागरूकता शेष भारत की अपेक्षा बंगाल में अधिक और शेष भारत से पहले विकसित हुई। भारत के आधुनिक जागृति में बंगाल ने जो भूमिका निभाई उसकी तुलना यूरोपीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में इटली से की जा सकती है।"[2] इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती है पहली यह कि अंग्रेजों की सभ्यता का प्रथम परिचय भारत में बंगालवासियों को हुआ। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पश्चिमी ज्ञान परम्परा से बंगाल का पहले पहल परिचय हुआ। परिणामस्वरूप यूरोपीय पुनर्जागरण में जो स्थान इटली का है वही स्थान भारतीय नवजागरण में बंगाल का है।

बंगाल प्रान्त के मध्यवर्ग और नवजागरण से उसके अन्तर्सम्बन्ध के विषय में सुमित सरकार का कहना है—"यहाँ उन्नीसवीं सदी के बुद्धिजीवी वर्ग ने सायास अपने लिए एक मध्यवर्गीय (मध्य वित्त श्रेणी) की छवि बना ली थी जो जमींदारों से नीचे किन्तु श्रम करनेवालों से ऊपर था। वह वर्ग अपना आदर्श यूरोपीय मध्यवर्ग में खोजता था। पाश्चात्य शिक्षा के माध्यम से इसने जान लिया था कि पुनर्जागरण, धर्मसुधार, बौद्धिक जागृति एवं जनतांत्रिक क्रान्ति अथवा सुधार जैसे आन्दोलनों के माध्यम से इसी वर्ग ने मध्ययुग को आधुनिक युग में रूपान्तरित किया।"[3]

बंगला नवजागरण के इतिहास में सर्वप्रथम राममोहन राय (1772-1833 ई.) का आता है। भारतीय नवजागरण के प्रथम नेतृत्वकर्ता राममोहन राय थे। अपने देश की जनता के प्रति गहर मानवीयता के कारण वे आजीवन संघर्षरत रहे। अपने समय के सभी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक जागरण के

लिए उन्होंने कठिन प्रयत्न किये। अपने समय के सामाजिक जड़ता, अन्धविश्वास और रूढ़ियों के विरुद्ध राममोहन राय ने जागरण का प्रसार किया। राममोहन राय के मन में प्राच्य दार्शनिक विचार चिन्तन के प्रति गहरा लगाव था। लेकिन वे पाश्चात्य ज्ञान को आत्मसात करने के विरोधी नहीं थे। वे पाश्चात्य वैज्ञानिक चिन्तन एवं भारतीय परम्परागत मूल्यों का समन्वय कर नए युग की चुनौतियों का सामना करने का सन्देश देते थे—"मुझे यह कहते हुए दुःख हो रहा है कि हिन्दू धर्म की जिस वर्तमान प्रणाली पर हम लोग चल रहे हैं। वह हमारे राजनीतिक हितों को बढ़ावा देने वाली नहीं है। जात-पाँत के भेदभावों ने, जिन्होंने जनता को कितने ही छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट रखा है, हमें राजनीतिक भावनाओं से शून्य कर दिया है। अनगिनत धार्मिक कर्मकांडों और पवित्रता सम्बन्धी नियमों ने हमें किसी भी कठिन कार्य को उठाने के पूर्णतः अयोग्य बना दिया है। मेरा विचार है कि इस हिन्दू धर्म में कुछ-कुछ परिवर्तन होने चाहिए, कम-से-कम इसलिए कि हमकों राजनीतिक तौर से लाभ हो और जनता को सामाजिक सुख मिल सके।"[4]

उपयुक्त उद्धरण में राममोहन राय ने धार्मिक परिवर्तन से सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन की बात कही है।

उन्होंने 1809 ई. में फारसी में अपनी प्रसिद्धपुस्तक 'एकेश्वरवादियों को उपहार' (Guide to Monotheists) लिखी। इस रचना में राममोहन राय ने अनेक देवताओं के विश्वास के विरुद्ध एक ईश्वर का सन्देश दिया। उनके सभी तर्क बेजोड़ हैं। जो अन्ध-आस्था की खिलाफत से उपजे थे। एकेश्वरवाद का सन्देश वस्तुतः राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने का ठोस प्रयास था। राममोहन राय ने 1814 ई. में कलकत्ता में नवजवानों के साथ मिलकर 'आत्मीय सभा' आरम्भ किया। इसमें विशेष रूप से उन्होंने मूर्तिपूजा, जाति की कट्टरता और निरर्थक धार्मिक अनुष्ठानों का पुरजोर विरोध किया। "स्त्रियों को शिक्षित करने के महत्त्व पर सबसे पहले सार्वजनिक बहस राममोहन राय द्वारा 1815 ई. में स्थापित 'आत्मीय सभा' द्वारा बंगाल में छेड़ी गई।"[5]

उन्होंने भारतवर्ष को यह सन्देश दिया कि मानवीय तर्क और विवेक की कसौटी ही मूल सत्य है। वेदान्त की व्याख्या करते हुए उन्होंने विभिन्न विद्वानों को उद्धरित किया है लेकिन अन्तिम निर्णायक वे मानवीय तर्कशक्ति को मानते हैं। ईसाई धर्म विशेषकर उसमें निहित अन्ध-आस्था के तत्वों को वे विवेक शक्ति के अनुसार परखते हैं। राममोहन राय ने 1820 ई. में 'प्रीसेप्ट्स ऑफ जीसस' (precepts of Jesus) नाम की पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में उन्होंने 'न्यू टेस्टामेंट' के नैतिक और दार्शनिक सन्देश को उसके चमत्कारी कथाओं से अलग किया है।

राममोहन राय ने 1828 ई. में ब्रह्मसमाज नाम की एक नई धार्मिक संस्था की स्थापना की जिसे कालान्तर में ब्रह्मसमाज कहा गया। इसका मूल उद्देश्य था हिन्दू धर्म

को स्वच्छ बनाना और एकेश्वरवाद की शिक्षा देना। ब्रह्मसमाज के मुख्य दो आधार थे—तर्क शक्ति और वेद तथा उपनिषद्। इस सामाजिक धार्मिक सुधार आन्दोलन ने एक साथ मूर्ति-पूजा विरोध, सती प्रथ जैसी सामाजिक बुराइयों की निन्दा की और मानवीय भाव की प्रतिष्ठा की। सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष का सबसे उज्जवल अध्याय राममोहन राय द्वारा सती प्रथा के खिलाफ ऐतिहासिक आन्दोलन था। उन्होंने एक और पुराने शास्त्रों का प्रमाण देकर समझाया कि हिन्दू धर्म सती प्रथा के विरोध में है और दूसरी ओर जनसमर्थन एवं मानवीयता की दुहाई दी। लम्बे संघर्ष के बाद 4 सितम्बर 1829 को सती प्रथा की समाप्ति के लिए बैंटिक की कार्रवाई से सती प्रथा कानून पारित हो गया।

राममोहन राय भारतीय पत्रकारिता के अग्रदूत थे। पराधीन भारतवर्ष के जनता के मध्य इन्होंने वैज्ञानिक, साहित्यिक और राजनीतिक ज्ञान के प्रचार, सामयिक विषयों पर जनमत तैयार करने और अंग्रेजों के सामने जनता की माँगों और शिकायतों को पहुँचाने के लिए पत्र-पत्रिकाएँ निकाली। उनके प्रमुख पत्रों में 1821 ई. में प्रकाशित 'सम्वाद-कौमुदी' मुख्य है। यह पत्र चार भाषाओं में अंग्रेजी, हिन्दी, फारसी, बंगला में प्रकाशित होती थी। साथ ही दूसरा प्रमुख पत्र 'मिरातुल अखबार' है जिसका प्रकाशन उन्होंने 1822 ई. में शुरू किया। इस पत्र की भाषा फारसी थी। "ये दोनों ही पत्र राष्ट्रीय नवजागरण के सन्देशवाहक थे।"[6]

राममोहन राय अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रों के बीच मुक्त सहयोग के हिमायती थे। उन्होंने विश्व के हर कोने में होने वाले स्वतन्त्रता, जनतन्त्र और राष्ट्रीयता के आन्दोलनों का समर्थन किया। वे मानव मात्र के प्रति होने वाले अन्याय, असमानता, उत्पीड़न एवं जुल्म के विरोधी थे। सच्चे अर्थों में वे विश्वमानव थे। 1821 ई. में नेपल्स की क्रान्ति की असफलता का समाचार सुनकर दुःखी हो गए और अपने समस्त कार्यक्रमों को स्थगित कर दिया। वहीं उन्होंने 1823 ई. में स्पेनिश अमरीका की क्रान्ति की सफलता पर सार्वजनिक 'भोज' देकर अपनी खुशी को व्यक्त किया। 1830 ई. की फ्रांसीसी क्रान्ति से राममोहन राय को पुरी सहानुभूति थी। नटाल बन्दरगाह में फ्रांसीसी झंडे को देखकर उनके मन में अपार हर्ष हुआ। फ्रांसीसी झंडे को सलामी देने जब वह दौड़े तो सुध-बुध नहीं रही और टखने की हड्डी में चोट आ गई। ऐसी भावह्विलता सच्चे हृदय में ही हो सकती है। अकारण नहीं राममोहन राय को राष्ट्रीयता के पिता कहकर सम्मान किया जाता है।" जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है, "राजा राममोहन राय ने भारत में आधुनिक युग का सूत्रपात किया।"[7]

राममोहन राय के अलावा बंगला नवजागरण की चेतना के प्रसार में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का योगदान अविस्मरणीय है। विद्यासागर महान विद्वान एवं सामाजिक-धार्मिक सुधार-आंदोलन के प्रेरणास्रोत थे। विद्यासागर संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे लेकिन पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का खुले दिमाग से स्वागत करते थे। उनका व्यक्तित्व भारतीय

और पाश्चात्य चिन्तन के समन्वय का उजला दृष्टान्त था। सच्चरित्रता, निर्भीकता, कथनी-करनी में एकता एवं गरीबों अभागों और उत्पीड़ित वर्गों के प्रति अपार सहानुभूति जैसे मानवीय गुणों से उनका व्यक्तित्व निर्मित हुआ था। "उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में सुधारक के रूप में ब्राह्मण वर्ग के अतिरिक्त अन्य जातियों के बालकों को भी संस्कृत कॉलेज में स्थान दिया और शास्त्रीय विद्वानों के लिए अंग्रेजी शिक्षा का भी प्रबन्ध किया।[8] "उन्होंने अपने समय के सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक गतिविधियों में नवजागृति का प्रसार किया। उनके विचार तत्कालीन भारतीय समाज के कूपमण्डूकता से कोसो दूर थी।

विद्यासागर ने भारतीय नवजागरण के सबसे शोचनीय विषय भारती की 'पददलित नारी जाति' की स्थिति को प्रखर स्वर प्रदान किये। इस क्षेत्र में उनका चिरस्मरणीय योगदान था। राममोहन राय के निधन के बाद कुंठित सामाजिक संशोधन की प्रक्रिया को उन्होंने पुनर्जीवित किया। उन्होंने मानवता के आधी आबादी के सत्य 'स्त्री-जीवन' के कारुणिक प्रश्नों को भास्वर रूप दिया। इन प्रश्नों में विधवा स्त्री के त्रासद जीवन का प्रश्न केन्द्रीय था। घोर सामाजिक विरोधी की परवाह किये बिना 1855 ई. में उन्होंने विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में आन्दोलन छेड़ दिया। यह आन्दोलन कोरी भावुकता से नहीं उपजा था बल्कि विधवा पुनर्विवाह के पक्ष में विद्यासागर ने ठोस तर्क रखे। तर्क और मानवीयता से उपजी गहन अन्तर्दृष्टि भारतीय नवजागरण और विद्यासागर दोनों का पर्याय बन गया। 1855 ई. के अन्तिम दिनों में भारत के अनेक प्रान्तों (बंगाल, मद्रास, बम्बई) और कई स्थानों पर विपुल संख्या में याचिकाएँ दी गई। इन याचिकाओं में सरकार से विधवा पुनर्विवाह को कानूनी वैधता प्रदान करने का अनुरोध किया गया था। यह आंदोलन पूर्णतः सफल रहा और 26 जुलाई 1856 ई. को इसने कानून का रूप ले लिया। इस कानून के अन्तर्गत विद्यासागर की प्रेरणा से पहला कानूनी विधवा पुनर्विवाह 7 दिसम्बर 1856 को कलकत्ता में सम्पन्न हुआ।

इस कठिन कार्य को अन्तिम परिणति तक पहुँचाने वाले विद्यासागर ने जन-जन तक नवजागरण की अलख जगायी। विद्यासागर ने अपने बेटे का भी एक विधवा से विवाह कराया। 1855 से 1860 ई. के बीच विद्यासागर ने 25 विधवाओं का पुनर्विवाह कराया। साथ ही उन्होंने बालविवाह, बहुर्विवाह के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। विद्यासागर ने स्त्री जीवन में शिक्षा के महत्त्व को पहचानते हुए नारी शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किये। स्कूल के सरकारी निरीक्षक के पद पर कार्य करते हुए उन्होंने 35 बालिका विद्यालयों की स्थापना कराई। जिनमें से कई स्वयं के खर्च से स्थापित कराए। 1894 ई. में कलकत्ता शहर में 'बेथून स्कूल' के विद्यासागर मन्त्री रहे। 19वीं सदी के पाँचवें और छठे दशक के नारी शिक्षा आन्दोलन की उपज 'बेथून स्कूल' के द्वारा नारी शिक्षा का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। यह उस दौर की बात है जब स्त्री का घर से निकलना भी पाप समझा जाता था। स्त्री शिक्षा के प्रति समाज में कई प्रकार के पूर्वाग्रह व्याप्त

थे। तमाम सामाजिक अवरोधों के बावजूद विद्यासागर ने नारी शिक्षा को अग्रणी स्थान दिया।

आनन्द शंकर राय का सन्दर्भ देते हुए भगवती प्रसाद शर्मा कहते हैं—"बंगाल का नवजागरण राजा राममोहन राय (1772-1833) से आरम्भ होकर विवेकानन्द (1863-1902) तक माना जाता है। इस समय धर्म, दर्शन, समाज संस्कृति में जो उथल-पुथल हुई, वही बंगाल का नवजागरण कहा गया। इस तरह बंगाल का नवजागरण 'पराधीनता के काले बादल में सुनहरी रेखा' थी।"[9]

बंगला नवजागरण की अन्तिम कड़ी स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) थे। स्वामी विवेकानन्द के गुरु रामकृष्ण परमहंस (1834-1886 ई.) एक सन्तचरित्र व्यक्ति थे। उनके सन्देश का मूल सत्य था—'जनसेवा ही प्रभुसेवा है।' उन्होंने मनुष्य को ईश्वर का प्रतिरूप कहा है। स्वामी विवेकानन्द अपने गुरु के सन्देश को ज्ञान को तभी सार्थक मानते थे जब वह कर्म से जुड़ा हो। यह कर्मयोग भारतीय नवजागरण की वाणी थी। जो तात्कालिक सामाजिक जड़ता, भूखमरी, गरीबी और अकर्मण्यता के विरुद्ध सक्रिय सामाजिक चिंतक की पुकार थी। सभी धर्मों के बुनियादी एकता के सूत्रधार विवेकानन्द ने वेदान्त दर्शन की व्याख्या पूर्णतः बुद्धि संगत प्रणाली से सामने रखी। उन्होंने धर्म और विज्ञान के समन्वय पर बल दिया। विवेकानन्द के विचार भारतीय सामाजिक जीवन की बद्धमूल कूपमंडूकता से भिन्न थी। शेष विश्व में हो रहे सामाजिक परिवर्तन से आँख मूँदकर बैठे रहने की प्रवृत्ति को उन्होंने जड़ या मृतप्राय होने की संज्ञा दी—"दुनिया के सभी दूसरे राष्ट्रों से हमारा अलगाव ही हमारे पतन का कारण है और शेष दुनिया की धारा में समा जाना ही इसका एकमात्र समाधन है। गति जीवन का चिन्ह है।"[10]

विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म के तत्कालीन बुराइयों जैसे—जाति-प्रथा, कर्मकांड, अन्धविश्वास की जोरदार निन्दा की। उन्होंने भारत की जनता से स्वाधीनता, समानता, स्वतन्त्र चिन्तन, बौद्धिक मानदण्ड के आधार पर निर्णय लेने की बात कही। वैचारिक स्वतन्त्रता के विषय में उन्होंने लिखा—"विचार और कर्म की स्वतन्त्रता जीवन, विकास तथा कल्याण की अकेली शर्त है।"[11] अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस की भाँति विवेकानन्द महान मानवतावादी थे। वह मानते थे सर्वोत्तम धर्म वह है जो 'मनुष्य मात्र में दरिद्र मानव में शिव का उद्‌भव करे।"[12] वे भावुकता विरोधी और पौरुष के प्रशंसक थे—"विवेकानन्द ने यह भी किया कि किसी भी प्रकार की भावुकता के लिए अपनी व्यवस्था में स्थान नहीं दिया। वे सब प्रकार की भावुकता से घृणा करते थे।"[13]

स्वामी विवेकानन्द मानवतावादी व्यावहारिक प्रयत्न को समाज कार्य से जोड़ते हैं। इसकी परिणति रामकृष्ण मिशन की स्थापना से हुई। रामकृष्ण मिशन की स्थापना 1896 ई. में कलकत्ता में हुई। मिशन द्वारा देश के विभिन्न क्षेत्रों में राहत कार्य और समाज सेवा के आदर्श को कार्य रूप अस्पताल, दवाखाने, अनाथालय, पुस्तकालय, विद्यालय खोलकर दिया गया। जो सतत् रूप से जारी है। इस तरह विवेकानन्द का

सर्वाधिक असर भारतीय नवजागरण में सामाजिक कल्याण एवं समाज सेवा के यथार्थ पक्ष को लेकर है। अकारण नहीं सुमित सरकार लिखते हैं—"विवेकानन्द भोंडे अर्थों में सुधार विरोधी अथवा पुनरुत्थानवादी हरगिज नहीं थे। उनके कार्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि उन्होंने समाज-सुधार की निन्दा करके (जिसका पर्याप्त औचित्य था) इसकी प्रगति को शिथिल किया। उनका आरोप था कि सुधारवादी आन्दोलन अभिजातवादी और विदेशी आदर्शों पर आधारित हैं इनके स्थान पर उन्होंने समाज सेवा का आदर्श प्रस्तुत किया।"[14]

बंगाल नवजागरण के महान विभूमि बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय 'रिनेसांस' को पन्द्रहवीं शताब्दी के भारत के सांस्कृतिक जागरण से जोड़कर देखते हैं।" अपने निबन्ध 'बाङ्लार इतिहास सम्बन्धों कायेकटि कथन (1880)' में उन्होंने लिखा है—"यूरोप कितना पहले सभ्य हुआ? सिर्फ चार सौ साल पहले पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप हमसे अधिक असभ्य था। सभ्यता यूरोप में एक घटना से आई। अकस्मात् यूरोप ने चिर-विस्मृत ग्रीम संस्कृति का पुनराविष्कार किया।...पेटार्क, लूथर, गैलिलियों, बेकन अकस्मात् यूरोप का भाग्योदय हो गया। हमारे यहाँ भी एक बार वही दिन आया था। अकस्मात् नवद्वीप में चैतन्य चन्द्रोदय, उसके बाद रूप सनातन प्रभृति असंख्य कवि धर्मतत्वविद् पण्डित। दर्शन में रघुनाथ शिरोमणि, गदाधर, जगदीश। स्मृति में रघुनन्दन एवं उनके अनुयायी फिर बंगला काव्य का जलोच्छवास। विद्यापति, चंडीदास चैतन्य के पूर्वगामी। किन्तु उसके बाद जो चैतन्य परवर्तिनी बंगला कृष्णविषयक कविता लिखी गई वह अपरिमेय तेजस्विनि और जगत् में अतुलनीय है। यह सब कहाँ से आया? हमारा यह रिनेसांस कैसे घटित हुआ? सहसा जाति की यह मानसिक उद्दीप्ति कहाँ से हुई?"[15]

इस प्रकार राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानन्द के मानवतावादी जीवन दृष्टि ने बंगाल के नवजागरण को रूप दिया। जिसका प्रभाव समस्त भारत पर पड़ा।

बंगाल के नवजागरण को इनके अलावा देवेन्द्रनाथ ठाकुर (1817-1907), केशवचन्द्र सेन (1838-1884), शिवनाथ शास्त्री (1847-1919), आनन्दमोहन बसु (1847-1906), शिशिरकुमार घोष (1840-1911), नवगोपाल मिश्र (1846-1917), योगेन्द्र नाथ बन्धोपाध्याय विद्याभूषण (1845-1904), द्वारिका नाथ विद्याभूषण (1845-1904), राजनारायण वसु आदि व्यक्तित्व ने अपने सामाजिक और राजनीतिक कार्य से आगे बढ़ाया। इन सबके विचारों का प्रभाव बंगाल के राष्ट्रीय चेतना के आरम्भिक दौर के समाज, शिक्षा, साहित्य, कला, संस्कृति में परिलक्षित होती है। यह जागरण बाद के समय में उभरे राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के विभिन्न पक्षों में दिखाई देता है। बंगाल का नवजागरण प्रान्त की सीमा से निकलकर पूरे देश का प्रतीक बनता है। बंगाल इसके नेतृत्वकर्ता साबित होते हैं। बंगला नवजागरण भक्ति आन्दोलन से प्रेरणा लेती है और तत्कालीन राष्ट्रीय सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक,

सांस्कृतिक क्षेत्रों की ओर दृष्टि डालते हैं तो जहाँ कहीं भी कोई अतिरेक दिखाई देता है। वहाँ हमारे ये नवजागरण के मशाल जलाने वाले पुरखे आशा और मार्गदर्शक की भूमिका में खड़े नजर आते हैं। बंगाल का नवजागरण देश को गहरी निद्रा से जगाकर सुबह के संकलप का रूप है–

"सोन गो-भारतभूमि, कतनिद्रा जावे तुमि
आरनिद्रा उचित ना हय
उठत्यज घूमघोर इहिला हाइलाभोर
दिनकर प्राचीतै उदय।"

अर्थात् सुनो हे भारतभूमि, तुम्हारी निद्रा कब खत्म होगी और सोना उचित नहीं है! अतः निद्रा को छोड़कर उठ जाओ, भोर हो रहा है। पूर्व दिशा से सूर्य उदित हो गया है।"[16]

'शर्मिष्ठा' की यह पंक्तियाँ स्वतन्त्रता रूपी सूर्य के उदय का सूचक है। जो सामूहिकता द्वारा सम्भव है। जिसकी औपनिवेशिक दौर में भी जरूरत थी और आज भी है।

सन्दर्भ–

1. भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, बिपचन्द्र, पृ. 46
2. बंगला नवजागरण, सुशोभन सरकार, पृ. 4
3. आधुनिक भारत, सुमित सरकार, पृ. 90-91
4. भारतीय चिन्तन परम्परा, के. दामोदरन, पृ. 363-364
5. स्त्री संघर्ष का इतिहास, राधा कुमार, पृ. 26
6. भारतीय चिन्तन परम्परा, के दामोदरन, पृ. 365
7. भारतीय चिन्तन परम्परा, के दामोदरन, पृ. 362
8. बंगला नवजागरण, सुशोभन सरकार, पृ. 25
9. भारतीय निबन्ध में आनन्द शंकरराय का निबन्ध, रेनेसां का नया क्रम, पृ. 273
10. भारत, बिपनचन्द्र, पृ. 153
11. आधुनिक भारत, पृ. 153
12. विवेकानन्द, रोमां रोला, पृ. 123
13. वही, पृ. 123
14. आधुनिक भारत, सुमित सरकार, पृ. 96
15. आलोचना, नामवर सिंह का लेख, हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, अक्टूबर-दिसंबर 1986, पृ. 1
16. नवजागरण और प्रतापनारायण मिश्र, पृ. 28-29

समकालीन कथा साहित्य में श्रमिक वर्ग का जीवन

डॉ. चिट्टि अन्नपूर्णा, डॉ. रेन्जू मुरलीधरन

मानव इतिहास के हर सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में सर्व मानव सुख और शान्तिमय जीवन को कायम रखना ही प्रधान उद्देश्य रहा था। तदनुरूप नियम, कानून और व्यवस्थाओं का निर्माण भी हुआ। लेनि, मानव समाज का यह प्रयास व्यावहारिक रूप में शत्-प्रतिशत सफल होना सन्देहास्पद ही है। इसका प्रधान कारण नियमों, कानूनों और व्यवस्थाओं को कड़े रूप में पालन करने में होनेवाली समस्याएँ और समय समय पर मानव चिन्तन में वृद्धि, वैज्ञानिक तरक्की, जीवन स्तर में आनेवाले बदलाव आदि के कारण पुराने नियमों, कानूनों और व्यवस्थाओं के संशोधन की आवश्यकता होती है। यदि परिवर्तित परिस्थितियों व परिवेश के अनुरूप व्यवस्था में बदलाव नहीं लाया जाता है, तो व्यक्तियों के जीवन स्तर में पुरोगति असम्भव है। मनुष्य-मनुष्य के बीच अन्तर प्रकट होते हैं। असमानता देखने को मिलती हैं। वे हैं–1. सामाजिक स्तर और 2. आर्थिक स्तर। ये दोनों व्यक्ति, परिवार और समाज को शासित करनेवाले प्रधान तत्त्व हैं। इनके कारण ही व्यक्ति या समुदाय में कुंठाएँ, श्रेष्ठता-न्यूनता, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब जैसी असमानताएँ पनपती है। ये ही असमानताएँ अधिकांशतः सामाजिक संघर्ष के मूल होती हैं।

भारतीय समाज सामाजिक संस्कृति की विशेषता रखती है। भिन्न क्षेत्रों के भिन्न समुदाय, भिन्न संस्कृतियाँ, भिन्न जीवन शैलियाँ, भिन्न धर्म, भिन्न वर्ग भारतीय समाज की विशेषताएँ हैं। लेकिन, जहाँ इन्हें हम विशेषताएँ कहते हैं, वहीं ये समाज के बँटवारे के तत्त्व भी रहे हैं। परम्परागत वर्ग व्यवस्था के विकृत रूप से विकसित जाति व्यवस्था, छुआ-छूत और आर्थिक स्तर के अन्तर से श्रेष्ठता-न्यूनता के भाव फैलकर समाज वर्गों में बँट गया है। सामाजिक और आर्थिक अन्तर व्यक्ति और समुदायों में श्रेष्ठता और न्यूनता ग्रन्थि को विकसित करता है। यही भारतीय समाज के साथ भी हुआ। वर्ण, जाति, धर्म, प्रदेश, भाषा, समुदायों में बँट गये भारतीय समाज

डॉ. चिट्टि. अन्नपूर्णा : प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, मद्रास विश्वविद्यालय, चेन्नै (तमिलनाडु)
डॉ. रेन्जू मुरलीधरन : पूर्व शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय, मरीना कैंपस, चेन्नई-5

में, आज भिन्नताएँ शाखोपशाखों में विस्तारित होकर अपनी जड़ों को मजबूत करती जा रही है।

साहित्य का प्रधान उद्देश्य समाज श्रेयस है। इसलिए, आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के हिन्दी साहित्यकार समाजिक अन्तर, संघर्ष और कुण्ठाओं से समाज को मुक्त करने की कोशिशें करते आये हैं और अब भी साहित्यकारों ने अपनी कोशिशें जारी रखी। हिन्दी साहित्य के जैन सन्त, नाथ योगी, दास पंथ के समाज सुधारक, भक्ति साधक, नीति बोधक, आदि समाज कल्याण के अपेक्षी रहे थे। आधुनिक काल में पाश्चात्यवादों से प्रभावित प्रगतिशील लेखक वर्ग-भेद और उससे पीड़ित जनों की दीन गाथा को लिपिबद्ध करते आ रहे हैं। इनसे लिखित कई कहानियाँ हैं, जिनमें वर्ग भेद, निम्न वर्गों की प्रताड़ना, निम्न वर्ग का शोषण, उन पर किये जाने वाले अत्याचारों और अपमान आदि यथार्थ के धरातल पर चित्रित हुए हैं। निम्न वर्ग के अन्तर्गत लेखकों ने कृषक, मज़दूर, घरों में, काम करनेवाले नौकर, गरीब आदि के जीवन की विडम्बनाओं और विवशताओं को चित्रित किया है।

भारतीय समाज में प्राचीनकाल के लोगों के जीवन का आर्थिक आधार कृषि रही थी और अब भी 70% प्रतिशत के लोग कृषि पर ही निर्भर हैं। मानव समुदाय के आरम्भिक जीवन काल में कृषक स्वेच्छा के साथ कृषि करते थे। लेकिन, धीरे-धीरे समाज मे आनेवाले बदलाव विशेषतया आधुनिक काल में उनके व्यवसाय और जीवन पर गहरार प्रभाव डालते आये हैं। साहूकार, सेठ, जमीन्दार आदि व्यवस्थाओं के आविर्भाव के कारण इनके दबाव में कृषकों और खेत में काम करनेवाले मजदूरों को आन पड़ा था। उन्हें सेठ, साहुकारों और जमींदारों के शोषण का शिकार बनना पड़ता था। इन्हें ही नहीं सेठ, साहुकार, जमींदार आदि के शोषण और अत्याचारों का शिकार उनकी स्त्रियों को भी होना पड़ता था। परिणामस्वरूप, वे आर्थिक रूप से ही तबाह नहीं होते थे, अपितु, पारिवारिक मान-मर्यादा की दृष्टि से भी बरबाद होते थे। इस प्रकार की कई घटनाएँ इतिहास के पन्नों में देखने को मिलती हैं।

भारत की स्वतन्त्रता के पहले तक समाज में कृषकों और मजदूरों की यही स्थिति रही थी। प्रेमचंद जैसे रचनाकारों ने अपनी रचनाएँ गोदान, कफ़न आदि में इनके जीवन की करुण कथा को चित्रित किया है। स्वतन्त्रता के बाद निर्मित कानून व्यवस्था के कारण कृषक और मजदूरों की इस स्थिति में सुधार आयी तथा जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन हुआ। आधुनिक युग में उद्योग और प्रौद्योगिकी का विकास हुआ है। सूचना प्रौद्योगिकी और औद्योगिकीकरण के फलस्वरूप भारत की आर्थिक व्यवस्था में बदलाव आया। लेकिन, इसके साथ-साथ लोगों में आर्थिक लोभ की मानसिकता भी दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही है। गरीब तो गरीब रह गये हैं। अमीर और अमीर बनते जा रहे हैं। निम्न वर्ग निम्न-मध्य-वर्ग में और मध्य वर्ग उच्च-मध्य-वर्ग में तबदील हुए हैं। आज भारत के लोगों के आर्थिक स्तर के विकास का मूल कारण प्रवास होना कहा

जा सकता है। गाँव में रहनेवाले मजदूरी की तलाश में शहर और महरानगर की ओर निकलकर अपने जीवन स्तर को विकसित करने में संघर्षशील रहे हैं भारत में अधिकांश समस्या उन प्रवासियों की होती है, जो गाँव से शहर को मजदूर के रूप में प्रवासित होते हैं। लेकिन, इनकी उम्मीदों के अनुसार उनका जीवन नहीं गुजरता। इसका प्रधान कारण समय-समय पर आर्थिक परिस्थितियों में आनेवाले बदलाव और प्राकृतिक विपदाएँ जैसे बाढ़, अकाल, सूखा, छूत की बीमारियाँ कहे जा सकते हैं। कभी कभी बाढ़ के कारण समस्या उत्पन्न होती है, तो कभी संक्रमित बीमारियों के कारण। आज विश्व को तड़पा रही बीमारी कोविड-19 जैसी लंबे समय के लिए मानव जीवन को प्रभावित करनेवाली परिस्थितियाँ भी निम्न वर्ग के जीवन को बुरी तरह से तबाह कर देती हैं। सन् 1918 में प्लेग जैसी छूत की बीमारियाँ फैली थी। लेकिन, हिन्दी साहित्य व अन्य भारतीय साहित्यों में ऐसी बीमारियों से प्रभावित मानव जीवन का आधिक जिक्र नहीं मिलता है। उस समय भी भारत में करोड़ से ज्यादा लोगों की मौत हुई थी। भारत ने कलरा, क्षय, चेचक जैसी छूत की बीमारियों और अनेक प्राकृतिक विपदाएँ जैसी अकाल, सूखा, बाढ़, आँधी आदि के कारण लाखों की मृत्यु समय-समय होते हुए देखा और लाखों लोगों को

विडम्बनात्मक जीवन बिताना पड़ा। ऐसे में लोगों की जान का नुकसान ही नहीं आर्थिक रूप से जीवन तबाह हुआ था। श्री हरिवंशराय बच्चन की कविता बंगाल की काल उस समय बंगाल में पड़ी अकाल से उत्पन्न मानव की दुर्बर स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती है। ऐसी विपदाओं में लोगों का, विशेषतयाँ गरीब और निम्न वर्ग के लोगों का जीवन संकटग्रस्त होता है। कहानीकार मार्कण्डेय की कहानी दाना-भूसा सूखे के कारण प्रभावित गरीबों की यथार्थ गाथा को प्रस्तुत करती है। सूखे के कारण सूख गई राजी अपने बच्चे को दूध पिलाने में असमर्थ होती है। भूख से तड़पनेवाला डेढ़ साल का लड़का दीवार चाँटते हुए अपनी भूख को सन्तुष्ट करता रहता है। राजी का पति बसन कहीं से चींटों से लदे गुड़ को लाकर पत्नी से पानी में घोलकर देने के लिए कहता है, तो पत्नी गुड़ के पानी को भूखे तड़पनेवाले बच्चों को थोड़ा पिलाकर और खुद पीने लगती है, तो पति तपे हुए रांगे की थरथराते हुए पत्नी से कहता है कि पी लिया है न दो गिलास रस, बड़ी बात सूझेगी।[1] इस प्रकार सूखा हो या अकाल या और कोई विपदा, के कारण मानवीय सम्बन्ध ही नहीं, बल्कि आत्मीय सम्बन्ध और मानवता भी तरतर्राते हैं। यह गरीबों के जीवन की विडम्बना है।

प्राकृतिक बिपदाओं के सामने मानव की शक्ति फीकी पड़ जाती है। अमीर व्यक्ति धन के बलबूते अपनी जान बचा लेता है। लेकिन, सामान्य म गरीब व्यक्ति को पेट की भूख मिटाने के लिए झूझना पड़ता है। थोड़े पैसे रखने के बावजूद धान के अभाव के कारण उसकी खरीददारी नहीं हो पाती है। ऐसे में लोगों को, खास करके गरीब मोगों को पेट की भूख न मिटा पाने की स्थिति से झूझना पड़ता है। सूखा

प्राकृतिक आपदा में भूख मिटाने के लिए गरीबों को होने वाली पीड़ा रामदरश मिश्र की कहानी माँ सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो में देखी जा सकती है। इस कहानी का पिता बच्चों की भूख मिटा न पाने की अशक्तता और सूखे से उत्पन्न विकट स्थिति को लेकर चिंताग्रस्त हो जाता है कि—क्या खाती थी, अरे खाने को और मिलता भी क्या? चना, मटर, मक्का, सत्तू भूजा और वह भी कहाँ मिलता है इन दिनों घर घर तो भूख दहाड़ रही है, पैसा देने पर भी अब कोई अन्न नहीं मिलता।[2]

सूखे के कारण किसान को आर्थिक रूप से ही नहीं खाद्य पदार्थों को संग्रह करने में भी समस्या का सामना करना पड़ता है। सूखे के कारण अकाल की स्थिति उत्पन्न होती है। सूखे में फसल सूख जाती हैं, जिससे अन्न भी मयस्सर नहीं होता। किसान के लिए यह दोहरी आपत्ति की स्थिति होती है। एक ओर उसकी फसल सूख जाती है, तो दूसरी ओर उससे लगान भरना मुश्किल हो जाता है, जिसके कारण उसे कर्ज लेना पड़ता है और उसके लिए उसे ब्याज पर ब्याज चुकाते हुए कंगाल होना पड़ता है। सूखा जैसी प्राकृतिक विपदाओं मे किसान को संकटों के नीचे दबना पड़ता है। सूखे के कारण किसान की होनेवाली दयनीय स्थिति गिरिराज शरण अग्रवाल की कहानी सर्टिफिकट के पिता की जैसी ही होती है। वह न बच्चों की भूख को मिटाने में समर्थ होता है, ऊपर से सूख गयी फसल, उस पर लगान उसकी चिंता को दुगुना करते हैं कि—कुछ तो करना ही होगा....लगान अभी तक माफ नहीं हुआ है, कर्ज का भुगतान जरूरी है।, पाँच-पाँच का पेट पालना है। एक बार तो सोचा कि कहीं भाग जाए और इन सारी मुसीबतों से एक ही साथ छुटकारा पा जाए।[3] ऐसी स्थिति में मनुष्य जीवनसे पलायन करने के लिए विवश होता है। इसीलिए आज किसानों की आत्महत्याओं की घटनाएँ हो रही हैं।

प्राकृतिक प्रकोप के कारण जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार सेठ साहूकारों के अमानवीय व्यवहार के कारण भी अपमानों को सहते हुए अभावग्रस्त जीवन उन्हें जीना पड़ता है। प्राकृतिक प्रकोप के कारण किसान अपना खेत छोड़कर दूसरे गाँव में मजदूरी के लिए जानेवाले किसान के खेत पर सेठ-साहूकार कब्जा कर लेते हैं। मृदुला गर्ग की बेनकाब कहानी में खेत को छोड़कर पेट को हाथ में पकड़कर जानेवाले किसान के सात सेठ-साहुकारों के द्वारा किये जानेवाले अन्याय इस तरह के होते हैं कि—गाँव में सूखा पड़ गया था। जमीन बंजर हो गयी थी। बापू और भाई दूसरे गाँव दूसरों के खेतों पर मजदूरी करने गये थे और पीछे चौधरी खा गया उनका अपना खेत। जोत ली थी धरती ट्यूबवेल खुदवाकर। मना किया था बापू के सब भले आदमियों ने, कोर्ट कचहरी मत करो। 'सबने सलाह दी थी, नेक सलाह, पर बीपू नहीं माने। भाई को लेकर शहर चले गये। मालिश करने और पीछे से पुलिस आकर हम माँ बेटे को पकड़ ले गयी।[4]

बाढ़ आती है, तो ग्रामीणों की जिन्दगी यातनाग्रस्त होती है। खाने तक के लिए उन्हें तरसना पड़ता है। ऐसे में ज्यादा समस्या उन लोगों को होती है, जो पैसा कमाने के लिए गाँव छोड़कर शहर के लिए प्रवास गये होते हैं। वे अपने परिवार जनों के बारे में सोचर चिन्तित होने के बजाय और कुछ नहीं कर सकते। आर्थिक मजबूरियों के कारण प्रवास जीवन जीनेवाले लोगों की जान बाल-बच्चों और परिवार को लेकर ऐसे ही तड़पता है जैसे अशोक कुमार सिन्हा की बैरी पइसवा हो राम कहानी के पिता की तड़पती है—नवाँ माह चल रहा है फूलनी के गर्भ-धारण के। कहाँ होगी वह बाढ़-दहाड़ के बीच। कैसे होगी, सोच-सोचकर हरखू का मन घबड़ा रहा है। अगर फूलनी ने अपना बच्चा बाढ़ में ही जन दिया तो? वह नवजात शिशु को लेकर कहाँ होगी...कौन बताए उसे।[5]

प्राकृतिक विपदाएँ जहाँ किसान, मजदूर व गरीबों की जिन्दगी से खिलवाड़ करती हैं, वहीं जमींदार, सेठ-साहूकारों के द्वारा भी मजदूर और किसानों को समस्याओं का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी जमींदारों के द्वारा मजदूर लोग धमकाये जाते हैं। ऐसे लोगों की धमकियों से परेशान नारी का चित्रण रामदरश मिश्र ने सवाल के सामने कहानी में किया है। इस कहानी में मजदूर और उसके बेटे की हत्या की जाती है। जब मजदूर की पत्नी गवाही देने जाती है, तो जमींदार के गुंडों के द्वारा इस प्रकार वह धमकायी जाती है कि—अब तो तुम्हारा मरद और बेटा वापस आएँगे नहीं। अगर तुमने मुकदमे में कुछ ऐसी वैसी गवाही दी तो तुम्हारा यह लड़का भी नहीं बचेगा।[6]

सिर्फ धमकी ही नहीं कभी-कभी उनकी भलाई करने के नाम पर सेठ-साहूकार व गाँव के प्रधान कमजोर और नादान लोगों का शोषण करते हैं। यह व्यवहार आज के राजनीतिक क्षेत्र में भी व्याप्त है। शिवमूर्ति की कसाईबाडा कहानी में लोगों की भलाई के नाम पर बुराई करनेवाला गाँव के प्रधान का यह व्यवहार आज के स्वार्थी और भ्रष्ट राजनीतिक नेताओं की याद दिलाता है कि—अपना परधान कसाई है। इसने पैसा लेकर हम सबको बेच दिया है। शादी की बात धोखा थी। हम सबको पेशा करना पड़ता है।[7]

जिस तरह गाँव में सूखापन, बाढ़, तूफान भूकम्प जैसी प्राकृतिक आपदाओं के कारण जीवन तबाह हो जाता है तथा सेठ साहुकारों के शोषण के कारण जीवन यातनामय बन जाता है, उसी प्रकार शहर में काम करने वाले मजदूरों को भी अपने जयमानों के द्वारा किये जानेवाले शोषण का शिकार होना पड़ता है। कभी-कभी उनसे ओवरटाइम करबाते हैं। लेकिन वेतन नहीं देते। इस प्रकार ओवरटाइम करनेवाले मजदूरों की स्थिति संजीव की भूखे रीछ कहानी के पिता की स्थिति जैसी ही होती है—ऊवरटाइम के पैसे न मिले तो खर्च चले कहाँ से और एफ.एस के बंगले की रखवाली न किया करे तो रहे कहाँ? उनके सर्वेण्ट्स क्वार्टर में रहने से घर-भाड़े की

तो बचत हो जाती है। पाँच-पाँच खानेवाले और घर जो पैसा भेजने पड़ते है सो अलग।[8]

इतना ही नहीं सालों भर की मजदूरी के बावजूद भी पैसा इकट्ठा न कर पाने के कारण भी मजदूरों को वेदनाग्रस्त होन पड़ता है। अपनी सम्पूर्ण जिन्दगी भर की मेहनत के बावजूद एक कौडी भी बचा न पाने की विवशता सामान्य मजदूर व नौकरों के लिए चिन्ता का कारण बनती है। संजीव की कहानी भूखे रीछ के रामलाला जिन्दगी भर मेहनत करने के बावजूद रोजमर्रे की जरूरतों की पूर्ति करने में असमर्थ होता है कि—इस कारखाने में उसके पन्द्रह साल निगल लिए हैं—जवानी के कीमती पन्द्रह साल और बदले में दिया है क्या इस पन्द्रह साल के सफर में कभी तक ऐसा मुकाम नहीं आया कि कभी इत्मीनान से पेट भरने और तन ढ़कने की जरूरतों को पूरा कर सके।[9]

ठेकेदारों के द्वारा भी मजदूरों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। दिन भर काम करने के बावजूद भी उनकी मजदूरी देने के लिए ठेकेदार तैयार नहीं होते हैं। इस कारण भी उनको भरपेट भोजन नहीं मिलता तथा बीमारियों का इलाज भी नहीं कर पाते है। मजदूरों की दयनीय स्थिति के लिए बाध्य ठेकेदारों का अमानवीय व्यवहार संजीव की कहानी, गुंजन शर्मा बीमार है, के ठेकेदार के जैसे अन्तहीन रहता है—आज भी ठेकेदार आदि मुखिया ने मजदूरी नहीं दी जबकि उसे काम करते हुए दस दिनों से भी ज्यादा हो गए। वह भीतर से इतना टूट चुका है कि अब घर लौटने के नाम से ही उसे दहशत सी होने लगती है। लेकिन और कोई चारा भी तो नहीं, वह जाए कहाँ।[10]

फैक्टरी में काम करनेवाले मजदूरों की भी समस्याएँ कम नहीं हैं। यदि कोई मजदूर दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है, तो मुआवजा देकर उसकी छुट्टी कर दी जाती है। उनका भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। परिवार पर मुश्किले टूट पड़ते हैं। फैक्टरियों में काम करनेवाले मजदूरों की समस्याओं पर खोटे सिक्के कहानी में लेखिका मन्नू भण्डारी ने प्रकाश डाला है। इस कहानी के मालिक का अमानवीय व्यवहार मजदूरों के जीवन को किस तरह समस्यात्मक बनाता है, इससे स्पष्ट होता है कि—नौकरी में टाँग गई तो मुआवजा नहीं मिल गया दौ सौ रुपये अब क्या जागीर लिख दूँ उसके नाम? चपरासी बाहर निकालो इसे।11

मजदूरों का जीवन हमेशा अपमानों को सहते हुए गुजरता है। इन्हें समाज में ही नहीं अपितु, अपने यजमान और उसके परिवारवालों के द्वारा किये जानेवाले अपमानों को सहते हुए जिन्दगी व्यतीत करनी पड़ती है। उनके अपमानों से तरस खाकर कभी-न-कभी उन्हें मुँह खोलना पड़ता है, तो तब भी अपमान उन्हें नहीं छोड़ता। अरविन्द कुमार सिंह की कहानी सती की मजदूर माँ इसका जीता-जागता उदाहरण है। अपनी सन्तान के साथ उच्च वर्ग के अपने यजमान के बच्चे के द्वारा

अपमानजनक व्यवहार किया जाता है, तो उससे बरदाश्त नहीं होता। जब यजमान के बच्चे और उसके दोस्तों के द्वारा उसके बेटे को जूठा खिलाने की चेष्टा की जाती है, तो वह उसका प्रतिघटन करते हुए अपना आत्माभिमान का परिचय देती है कि—दो जून की रोटी मिलने लगी है तो राजा मत समझो खुद को।[12] अकसर निम्न वर्ग या मजदूर वर्ग के साथ होनेवाले अमानवीय व्यवहार पर राजेश कुमार बुद्ध ने आतंक कहानी में गौर किया है। गाँव के उच्च वर्ग के प्रति आवाज उठानेवाली महिला के साथ उच्च वर्ग का यह सख्त व्यवहार होता है, जो इस कहानी के उच्चवर्ग के व्यक्ति के द्वारा गाँव ने कोशिश भी की तो उन्हें भी पीटा था जिससे गाँव के लोग भयभीत हो गये। यही नहीं गाँववालों को इतना आतंकित कर दिया गया कि कोई भी व्यक्ति खाना-पानी देने तक की हिम्मत नहीं जुटा पाया। परिवार के अन्य लोगों को उनके घर से निकलने पर पाबन्दी लगा दी गयी।[13]

उच्च वर्ग के लोगों के निम्न वर्ग पर किये जानेवाले जुर्मों में उन्हें शिक्षा से वंचित रखना भी एक है। उच्चवर्ग के शिक्षक द्वारा निम्न वर्ग के छात्रों को दी जानेवाली मानसिक वेदना का चित्रण रतन वर्मा ने बलात्कारी कहानी में किया है। इस कहानी का लड़का बिल्टुआ के साथ होनेवाले शिक्षक का बदव्यवहार, परिणामस्वरूप निम्न वर्ग के छात्र उन्नति से वंचित रह जाने की बात स्पष्ट होती है कि—बदतमीज, बोलने का शउर नहीं और चला है हमारे स्कूल में पढ़ने। चल भाग यहाँ से। भागता है या...यानी उस बड़का इसकुल में नामांकन नहीं हो पाया था बिल्टुआ का। फिर तो उसने भी कोई जिद नहीं की थी दुबारा पढ़ने की।[14]

आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य प्राकृतिक विपदाओं के कारण यातनाओं से गुजरनेवाले निम्नवर्ग की दीन गाथा को ही नहीं, बलिक समाज के उच्च वर्ग के चन्द लोगों के द्वारा किये जानेवाले शोषण, अत्याचारों, और अपमानों को सहते हुए, विडम्बनात्मक जीवन जीने के लिए मजबूर होनेवाले निम्नवर्ग के यथार्थ जीवन को प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ सूची

1. आठ अच्छी कहानियाँ, सम्पादक—मार्कण्डेय, पृष्ठ सं. 58, लोक भारती प्रकाशन, नई दिल्ली-11002
2. माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो, रामदरश मिश्र, पृ. 22, रामदरश मिश्र की श्रेष्ठ कहानियाँ, रामदरश मिश्र, अविराम प्रकाशन, गली नं. 11, विश्वास नगर, दिल्ली-110032, संस्करण 1997
3. सर्टिफिकट, गिरिराज शरण अग्रवाल, पृ. 58, ग्राम्य जीवन की कहानियाँ, गिरिराज शरण अग्रवाल, प्रभात प्रकाशन, 4/191, आसफ अली रोड़, नई दिल्ली—110002, संस्करण-1996

4. बेनकाब, मृदुला गर्ग, पृ. 411, संगति-विसंगति-2, मृदुलागर्ग, नेशनलपब्लिशिंग हाउस, 2/35, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्करण-2004
5. बैरी पइसवा हो राम, अशोक कुमार सिन्हा, पृ. 13, आजकल, सि.जी.ओ. कॉम्पप्लेक्स, लोदी रोड़, नई दिल्ली-11002
6. सवाल के सामने, रामदरश मिश्र, पृ. 46, दस प्रतिनिधि कहानियाँ, रामदरश मिश्र, अविराम प्रकाशन, गली नं. 11, विश्वास नगर, दिल्ली-110032, संस्करण-1997
7. कसाईबाडा, शिवमूर्ति, पृ. 9, कसाईबाडा, शिवमूर्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन, 7/31, अंसारी रोड़, दरियागंज, नइ दिल्ली, संस्करण-1991
8. भूखे रीछ, संजीव, पृ. 98-99, संजीव की कथायात्रा दूसरा पड़ाव, संजीव, 1975-79, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्कारण-2008
9. वही, पृ. 101, संजीव की कथायात्रा दूसरा पड़ाव, संजीव, 1975-79, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्कारण-2008
10. गुंजन शर्मा बीमार है, विवेकानन्द, पृ. 63, गुंजन शर्मा बीमार है, विवेकानन्द, किताबघर प्रकाशन, 4855-56/24, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्कारण-2002
11. खोटे सिक्के, मन्नू भण्डारी, पृ. 149, नायक खलनायक विदूषक, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., जी-17, जगतपुरी, दिल्ली, संस्कारण-2002
12. सती, अरविन्द कुमार सिंह, पृ. वेबसाइट
13. आतंक, राजेश कुमार बुद्ध, पृ. 99, दलित समाज की कहानियाँ, रत्नकुमार सांभरिया, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि.,4697/3, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्कारण-2011
14. बलात्कारी, रतन वर्मा, पृ. 139, दलित समाज की कहानियाँ, रत्नकुमार सांभरिया, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि.,4697/3, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, संस्कारण-2011

कैलाश सत्यार्थी के कार्यों की अनुकृति हैं उनकी कविताएँ

पंकज चौधरी

महलों, दीवारों में है कौन चुना जाता?
कालीन के धागों में है कौन बुना जाता?
वे किसकी साँसें हैं, फुटबॉलों में भरतीं?
वे किसकी आँतें हैं, जो कपड़ों में सिलतीं,
शीशों की भट्टियों में है, कौन पिघलता जो?
फुलझड़ी-पटाखों में है, क्योंकर जलता वो?
खेतों खलिहानों में, फैक्ट्री मकानों में,
ईंटों के भट्टों में, पत्थर की खदानों में,

क्यों माँस गुलाबों का, अशरफ का लहू है क्यों,
जोसफ की हड्डियाँ क्यों, बेनी का पसीना क्यों,

तुमसे सवाल करने हम बच्चे निकल पड़े,
तुमसे जवाब लेने हम बच्चे निकल पड़े,
हर छोर से धरती के हम बच्चे निकल पड़े॥

नोबेल शान्ति पुरस्कार से सम्मानित मशहूर बाल अधिकार कार्यकर्ता कैलाश सत्यार्थी की उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ हैं। सत्यार्थी एक बेहद सम्वेदनशील कवि हैं। लेकिन कविता उनका पेशा नहीं है। उनका पेशा, उनका जुनून "सुरक्षित बचपन, सुरक्षित भारत" बनाना है। हिंसा और शोषण की चक्की में पिस रहे बच्चों को उनके

सम्पर्क : 348/4, दूसरी मंजिल, गोविंदपुरी, कालकाजी, नई दिल्ली-110019, मो. नं. : 9910744984, ई-मेल : pkjchaudhary@gmail.com

हिस्से की आजाद, अल्हड़, उन्मुक्त और बिन्दास जिन्दगी उपलब्ध कराना है। और बच्चों को उनके अधिकारों से महफूज कराने के सिलसिले में उनके सामने जब मुश्किलात या दुश्वारियाँ पेश आने लगती हैं, तो उनके अन्दर जो करुणा उत्पन्न होती है, वही समय-समय पर कविता के रूप में प्रस्फुटित होती रहती है। हम यह भी देखते हैं कि सत्यार्थी को कविताओं की तलाश में अन्य पेशेवर कवियों की तरह दर-दर भटकना नहीं पड़ता है। कविताएँ स्वयं आती हैं उनके पास।

बच्चों पर हिन्दी सहित दूसरी भाषाओं में हजारों कविताएँ लिखी गई हैं। लेकिन उन कविताओं के कवियों का सरोकार सिर्फ और सिर्फ कविता लिखने तक ही सीमित रहा है। वे दूर से अधिकार रहित और हाशिए का जीवन जी रहे बच्चों की पीड़ा को महसूस करके कविता लिखने के आदि रहे हैं। इसीलिए हम पाते हैं कि उनकी कविताओं में अनुभवों की जो सघनता, प्रामाणिकता और विश्वसनीयता होनी चाहिए, उसका अभाव है। श्री सत्यार्थी सहानुभूति के नहीं बल्कि करुणा के कवि हैं। वह इसलिए क्योंकि बाल दासता के दलदल में धँसे बच्चों को मुक्त कराने के क्रम में उन्होंने अपने ऊपर अनगिन जानलेवा हमलों को भी झेला है।

अपने आश्रमों—"मुक्ति आश्रम" और "बाल आश्रम" (पुनर्वास केन्द्रों) में बच्चों के साथ जब वे रहते हैं, तो लगता है कि कोई बच्चा ही उनके साथ घुल-मिल गया है। कोई बच्चा क्रिकेट खेल रहा है बच्चों के साथ। बच्चों के साथ सुबह की सैर कर रहा है कोई बच्चा और "रोटी, खेल, पढ़ाई, प्यार—हम बच्चों का है अधिकार" का नारा कैलाश सत्यार्थी नाम की कोई शख्सियत नहीं बल्कि कोई बच्चा लगा रहा है। ऐसे बेहिसाब उदाहरण हैं जिनके जरिए हम जान सकते हैं कि बगैर अन्धेरे में बैठा बच्चा बनकर कोई रोंगटे खड़े कर देने वाली कविता कैसे लिख सकता है।

श्री सत्यार्थी अपनी कविताओं में बच्चों के जरिए सवाल खड़े करते हैं। उनके सवाल उन्हें समकालीन भारतीय कविता से जोड़ने का काम करते हैं। समकालीन कविता का मूल स्वर प्रतिरोध का है। कविता वैसे भी सत्ता के खिलाफ रही है। असली कविता वही मानी गई, जिसने जनविरोधी नीतियों की हमेशा मुखालफत की है अपने समय में। उपरोक्त कविता में हम देख रहे हैं कि दुनिया के किसी भी मुल्क और छोर के बच्चे क्यों नहीं हों, वे अपने दुर्दिन का हम सब से जवाब माँग रहे हैं। वे जवाब माँग रहे हैं कि बाल मजदूरों के रूप में महलों, दीवारों में कौन चूना जाता है? मिर्जापुर, भदोही में कालीन के महीन धागों को कौन बुनता है? शिवकाशी में पटाखों की फैक्ट्रियों में कौन जल जाता है? शीशों की भट्ठियों में कौन पिघलता है? ईंटों के भट्ठों और पत्थर की खदानों में किनका लहू और पसीना जलता है? और ऐसी जगहों पर जिन गुलाबों, अशरफों, जोसेफों और बेनियों का लहू और पसीना जलता है, आखिरकार वे कौन हैं?

बच्चों के सवाल नाजायज नहीं है क्योंकि इन बच्चों का भी रोटी, खेल, पढ़ाई और प्यार पर उतना ही अधिकार है, जितना अन्य बच्चों का। भारतीय संविधान 14

साल तक के सभी बच्चों को जब निःशुलक और अनिवार्य शिक्षा देने की बात करता है, तब फिर ऐसी कौन-सी बला है, जो बच्चें को उनके अधिकारों से महरूम करने का काम करती है? रोटी, कपड़ा, मकान और शिक्षा तो हरेक नागरिक का मौलिक अधिकार है।

सत्यार्थी बाल मजदूरों के रूप में जिन गुलाबों, अशरफों, जोसेफों और बेनियों का सन्दर्भ देते हैं, वे सभी के सभी भारतीय समाज में तलछट का जीवन जी रहे आदिवसियों, दलितों, पिछड़ों, पसमान्दा मुस्लिमों और ईसाईयों के बच्चे हैं। उनका परिवार गरीबी रेखा के नीचे है, जिस वजह से सामाजिक और शैक्षणिक रूप से भी वे पिछड़े हैं। बाल मजदूरी एवं बाल दुर्व्यापार (ट्रैफिकिंग) के लिए उनकी गरीबी जितनी जिम्मेदार है, उतनी ही उनकी जाति भी जिम्मेदार है। सत्यार्थी की कविताओं का यदि हम सूक्ष्मता से अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि जाति के कारण समाज में जो विसंगतियों व्याप्त हैं, उन पर करारी चोट कहीं ज्यादा है इन कविताओं में। यह अकारण नहीं है कि गरीबी के बड़े कारणों में जाति प्रमुख है।

डॉ. राममनोहर लोहिया अक्सर लोगों से इस बात पर गौर करने को कहते थे कि रिक्शा चलाने वाले, सीवर की सफाई करने वाले, जूता गाँठने वाले, सड़क के किनारे खोमचे या रेहड़ी लगाने वाले, घरेलु नौकर या नौकरानियों के रूप में काम करने वाले या बाल मजदूरी करने वाले बच्चे कौन हैं? यहाँ यह कहने की जरूरत नहीं है कि उनका इशारा हाशिये की जातियों की ओर होता था। लोहिया जी कहते थे कि इन्हें ही सामाजिक न्याय की सबसे ज्यादा दरकार है। कहने की जरूरत नहीं है कि सत्यार्थी उन्हीं के बच्चों के लिए सामाजिक न्याय का आह्वान कर रहे हैं।

सत्यार्थी ने बाल अधिकारों के बाबत लोगों में जागरूकता फैलाने के लिए चालीस सालों में अनेक देशव्यापी और विश्वव्यापी यात्राओं का आयोजन किया है। गौरतलब है कि उनकी अधिकांश कविताएँ उन्हीं यात्राओं या अभियानों के दौरान लिखी गईं। उनकी कविताएँ आह्वान करती हैं कि बाल मजदूरी, बाल हिंसा और शोषण का खात्मा करो। उनकी एक कविता है "मुक्ति के लिए उठो"। इस कविता की रचना उन्होंने तब की थी जब बाल दुर्व्यापार, बाल मजदूरी और बाल यौन शोषण के खिलाफ लोगों को जागरूक करने के लिए "मुक्ति कारवाँ" जागरूकता अभियान की शुरुआत की गई थी। मुक्ति कारवाँ एक सचल दस्ता है जो गाँव-गाँव में घूमकर बाल दुर्व्यवहार, बाल मजदूरी और यौन शोषण जैसी बुराइयों के खिलाफ जन जागरूकता फैलाने का काम करता है। इस दस्ते के नौजवान नुक्कड़ नाटक, दीवार लेखन, जन जागरण की छोटी-छोटी बैठकों और सभाओं के जरिए बच्चों की खरीद-फरोख्त के कारोबार, बच्चों के यौन शोषण उसे रोकने के उपाय और कानूनों के बारे में लोगों को जागरूक करते हैं। इस कविता के जरिए श्री सत्यार्थी आह्वान करते हैं—"मजदूरी बच्चे करें क्यों?/क्यों पिता को नहीं रोजगार?/घुट रहा है बचपन, लुट रहा है बचपन,/गरीबी के नाम पर, गिरबी है

बचपन,/चाहिए था जिनको सिर्फ प्यार,/चाहिए था जिनको सिर्फ प्यार,/आज होगा इसका फैसला,/मुक्ति के लिए उठो, न्याय के लिए उठो।"

सत्यार्थी का मानना है कि बाल मजदूरी के कारण व्यवस्कों को रोजगार नहीं मिलता। बेरोजगारी बढ़ने के बड़े कारणों में बाल मजदूरी भी है। वे कहते हैं कि अगर बाल मजदूरी का उन्मूलन कर दिया जाए, तो बेरोजगारी बहुत हद तक कम हो जाएगी। गरीबी भी नहीं रहेगी। वे बाल मजदूरी, बेरोजगारी और गरीबी को एक-दूसरे से जुड़ा हुआ मामला बताते हैं। बात सही भी है, क्योंकि बाल मजदूरी के सस्ता श्रम होने के कारण नियोक्ता बच्चों से ही काम करवाने में अपना फायदा देखता है। बाल मजदूर संगठित भी नहीं होते। बाल मजदूरों से मनमाना काम लिया जा सकता है। दूसरी ओर वयस्क रोजगार के लिए ज्यादा पैसे की माँग करेंगे। उनसे खतरे की भी आशंका है आदि। वह बच्चों की आजादी और प्यार का हरण कर लेता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि बाल मजदूरी सब समस्याओं की जड़ है। मुक्ति कारवाँ के साथी अपने अभियानों में इस कविता को गाकर लोगों को सुनाते हैं। ताकि वे बाल मजदूरी की असलियत से वाकिफ हो सकें और इस सामाजिक बुराई को दूर करने को आगे आएँ।

सत्यार्थी का कवि इस कविता में आह्वान करता है कि चूड़ियों में जो खनक पैदा करते हैं, हीरों में जो चमक पैदा करते हैं और जिनकी आग से ईंट पकती है, उनकी मुक्ति के लिए उठो—"बच्चों के हक-हकूक आज हम दिलाएँगे/बाल मजदूरी को अब जड़ से मिटाएँगे/जिन्दगी की नई किताब लिखकर हम दिखाएँगे/मुक्ति के लिए उठो, मुक्ति के लिए चलो।" भारत ही नहीं, बल्कि दुनिया के बाल मजदूरों का यदि समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाए, तो उसमें श्री सत्यार्थी की कविताएँ बड़े काम की साबित होंगी।

सत्यार्थी के नेतृत्व में बाल दासता से मुक्त कराए गए बच्चे बाद में बाल अधिकारों के मुखर-प्रखरप्रवक्ता बने। कालू कुमार भी एक ऐसा ही युवा था। कालू आन्दोलन की गतिविधियों को जब झारखंड में अंजाम दे रहे थे, उसी दौरान एक जहरीले करैत साँप ने उनको डँसकर उनकी इहलीला समाप्त कर दी थी। अपने अनन्य शहीद साथी के प्रति सत्यार्थी का कवि किस तरह हाहाकार कर उठता है, उसकी बानगी देखिए—"मुक्ति के अर्थ को, सफलता के गर्व को/खुद पर विश्वास को, जीत के अहसास को/बचपन की परिभाषा को, आन्दोलन की आशा को/चेहरे से कहीं चौड़ी निश्छल मुस्कान को/छोटे से जिस्म में बड़े से इंसान को/मेरी अधलिखी अनकही नन्हीं सी कविता को-कालू को/काल बनकर डँस लिया जहरीले साँप ने।" कालू के जरिए सत्यार्थी आन्दोलन के उन तमाम साथियों की महत्त को बताते हुए, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं, जिन्होंने बचपन को खुशहाल करने के लिए अपनी जान की भी परवाह नहीं की। आन्दोलन के कई साथी बाल अधिकारों के लिए लड़ते-लड़ते शहीद हो गए।

सत्यार्थी कविताओं को देखें, तो अधिकांश में बच्चे ही बच्चे नजर आएँगे। उनके जीवन की शायद ही कोई ऐसी गतिविधि हो, जिसमें बच्चे नहीं हों। गौरतलब है कि उनकी कविताएँ भी बच्चों पर ही हैं। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को देखते हुए रहीम याद आते हैं–

"एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
'रहिमन' मूलहि सींचिबो, फूलहि फलहि अघाय॥"

रहीम के इस दोहे में जीवन का गूढ अर्थ छिपा हुआ है। इस दोहे के अनुसार जिनका जीवन चलता रहा, उन्होंने दुनिया को तो जीता ही, साथ ही दुनिया का कितना भला किया, इसको सत्यार्थी को जानकर समझा जा सकता है। एक काम, एक लक्ष्य के प्रति हमारी दीवानगी हमारी प्रतिबद्धता, ईमानदारी, जिम्मेदारी और जवाबदेही को भी दर्शाती है। जैसे, कम्प्यूटर को ही लीजिए। सत्यार्थी लेटेस्ट से लेटेस्ट टैक्नोलॉजी का इस्तेमाल करते हैं। लेकिन जैसे ही बच्चों की बात उत्पन्न होती है, उनके दिल में एक खलिश भी आ जाती हैं–"ढ़ेर से कम्प्यूटर हो गए हैं इर्द-गिर्द/लेकिन वे आँखें नजर नहीं आतीं/जो दर्द में बेझिझक हो उठे/और खुशी में सहजता से मुस्करा दें/भाग तो पूरी भीड़ रही है आसपास लगातार/लेकिन वे पाँव कहीं नहीं दीखते/जो बिछड़े किसी बच्चे को/माँ की गोद तक पहुँचाने की खातिर बेचैन हों।' हम देखते हैं कि सत्यार्थी की करुणा और सम्वेदना बच्चों के लिए छलकती रहती है। विज्ञान और तकनीक का भी महत्व उनके लिए वहीं तक है, जब तक कि वह हमारी कोमल भावनाओं, मानवीय इच्छाओं और आदिम राग को नहीं रौंदे, क्योंकि वही तो हमें जीवमात्र की रक्षा करने एवं उसकी सेवा को प्रयत्नशील करते रहते हैं। सम्वेदना और करुणा का ही अगर लोप हो गया, तो फिर कविता कैसे जन्म लेगी? आँखों की नमी पर ही तो दुनिया टिकी है। कविता की पहली शर्त है कि दुनिया में जो कुछ भी मानवीय है वह उसके लिए पराया नहीं हैं बच्चों से कोमल, मासूम, बेदाग और निर्दोष दुनिया में क्या है? बच्चे तो स्वयं कविता की प्रतिमूर्ति हैं। श्री सत्यार्थी यदि ऐसे बच्चों की बात करते हैं, तो कविता का जन्म लेना लाजिम ही लाजिम है। अब सवाल यह भी पैदा होता है कि अगर उनका ध्यान सिर्फ और सिर्फ बच्चों पर ही केन्द्रित नहीं रहता, तो क्या हम आज उन हजारों बच्चों को जीवन और समाज की मुख्यधारा से जुड़े हुए देख पाते, जो बाल दासता की बेड़ियों में जकड़े हुए थे? देश और दुनिया में उन कानूनों और नीतियों में बदलाव हुए होते, जो सुरक्षित और खुशहाल बचपन के लिहाज से अनिवार्य माने गए?

सत्यार्थी भी नए साल का जश्न मनाते हैं। औरों की तरह वे भी सालभर की योजना बनाते हैं कि उन्हें क्या-क्या करना चाहिए। लेकिन औरों में और उनकी योजना में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। औरों की योजना जहाँ सिर्फ और सिर्फ

अपने तक सीमित रहती है, वहीं सत्यार्थी की योजना पूरी दुनिया के बच्चों के अधिकारों की रक्षा और उनकी सुरक्षा कैसे की जाए, उसके लिए बनती है। वे नए साल में उन उन बच्चों के लिए चुप्पी तोड़ने का संकलप लेते हैं, जिनके साथ हमारी आँखों के सामने हिंसा और शोषण की घटनाएँ घटित होती रहती हैं और उनके खिलाफ हम कुछ बोलने की हिममत नहीं जुटा पाते। हम देख रहे हैं कि बच्चे मजदूरी कर रहे हैं, उनका दुर्व्यापार हो रहा है, बाल विवाह हो रहे हैं, उनका यौन शोषण हो रहा है और हम उसे अनदेखा कर जाते हैं। श्री सत्यार्थी ऐसे लोगों पर कटाक्ष और व्यंग्य करते हुए कहते हैं—"गूँगे कब तक बने रहेंगे/कब तक बने रहेंगे बहरे/हम दो आँखों वले अंधे/भीड़-भाड़ के नकली चेहरे/छोड़े अब पाखंड साथियों/आओ खुद को खुद से जोड़ें/नए साल में चुप्पी तोड़ें।" इसका दुष्परिणाम यह होता है कि बाल हिंसा कम होने की बजाय बढ़ती जाती है। शोषकों, उत्पीड़कों का मनोबल बढ़ता जाता है। उल्लेखनीय है कि उनकी कविताएँ आह्वानपरक हैं। चुप्पी, डर, भय और उदासीनता को तजकर आवाज बुलन्द करने और उस पर कार्रवाई करने का वे करते हैं आह्वान, क्योंकि—"हर ऊँचाई से हम ऊँचे/हर गहराई से भी गहरे/जन की आजादी पर अब से/नदी रहंगे धन के पहरे/भीतर की ताकत पहचानें/औरों को तकना अब छोड़ें/नए साल में चुप्पी तोड़ें/नए साल में चुप्पी तोड़ें/चलों हवाओं का रुख मोड़ें/"

बाल मजदूरी के खिलाफ अभियान से जो भी लोग जुड़े हुए हैं, वे इस बात को जानते हैं कि सत्यार्थी उनका कितना प्रोत्साहन करते हैं। किसी भी संगठन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उनके कार्यकर्ताओं की वहाँ कितनी हौसला अफजाई हो रही है। हौसला देने वाले यदि हमारे साथ हों, तो हम पहाड़ को भी ढ़ा सकते हैं। सागर में भी सेतु बना सकते हैं। आखिर सब कुछ मनुष्य ने ही तो किया है। सत्यार्थी ने 1998 में जब "बाल मजदूरी के खिलाफ विश्व यात्रा" का आयोजन किया, तो उनके कवि ने अपने यात्रियों से आह्वान किया था—"फौलाद हो चुके हैं तुम्हारे पाँव/और हाथ पहाड़ों की चोटियाँ/देखों कि तुम्हारा दिल समुन्दर बन गया है/आँखें, चाँद और सूरज/आसमान से ऊँचा हो गया है/तुम्हार मस्तमक/यह सब इसलिए हुए।/क्योंकि निकली है तुम्हारे मुँह से आज/एक साथ 25 करोड़ बेजुबान बच्चो/की आवाज।" गौरतलब है कि उस विश्व यात्रा का दुनियाभर की सरकारों पर इतना दबाव बना, प्रभाव पड़ा कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) को बदतर प्रकार की बाल मजदूरी पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए कानून बनाना पड़ा, जिसे हम आईएलओ कन्वेंशन-182 के नाम से जानते हैं। उस यात्रा का एक सुफल यह भी निकला कि आज पूरी दुनिया में बाल मजदूरों की संख्या घटकर 15 करोड़ पर आ गई है, जो विश्व यात्रा के समय 26 करोड़ से भी ज्यादा थी।

महान शायर और गीतकार साहिर लुधियानवी अपनी एक नज्म में कहते हैं—

"सर झुकाने से कुछ नहीं होता
सर उठाओ तो कोई बात बने
जिन्दगी भीख में नहीं मिलती...
हम को प्यार की बस्तियाँ बसानी हैं
दूर रहना कोई कमाल नहीं
पास आओ तो कोई बात बने।"

छोटी-छोटी बच्चियों के साथ यौन हिंसा हो रही है। परिवार, समाज की झूठी इज्जत और मर्यादा को ध्यान में रखकर वे अन्दर ही अन्दर घुटती, सिसकती रहती हैं। वे कुछ बोलना भी चाहें, तो उन्हें बोलने नहीं दिया जाता। उनके प्रतिरोध की ताकत को अपने ही दबा देते हैं। उन्हें न्याय नहीं मिल पाता। अपने साथ घटित अप्रत्याशित हिंसा, अत्याचार को सोच-सोचकर वे ट्रामा में चली जाती हैं। उनके विकास पर ग्रहण लग जाता है। कवि सत्यार्थी साहिर के अन्दाज में ऐसी बच्चियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं–

"मुट्ठियों में भींच लो सारी ताकत को/और चलो मेरे साथ, अभी चलो/क्योंकि वह कोमल पंख, नन्हा फूल, भोला स्वाद,/ब्लैकबोर्ड की इबारत, ऊँगलियाँ, वह अनछुई किरण और तोतली जुबान/किसी और के नहीं, सब तुम्हारे हैं।/चलो उनके लिए बेखौफ और महफूज दुनिया बनाने के लिए चलो,/तुम जितना चल सको, मेरे साथ चलो॥" इस कविता के सन्दर्भ में यह कहना जरूरी है कि सत्यार्थी ने 2017 में जब देशव्यापी "भारत यात्रा" निकाली थी, तो वह यात्रा बाल दुर्व्यापार के साथ-साथ बाल यौन शोषण के खिलाफ भी थी–'मोम की गुड़िया बनाके हमसे खेल रहे थे; वो तो कल था/जानवरों से कम कीमत पर बेच रहे थे; वो तो कल था/अब तुम हमको छू न सकोगे, खोटी नजरों वालों सुनलो/आग का दरिया बनकर अब हम निकल पड़े हैं/साँसों में तूफान लिए हम निकल पड़े हैं/दिल में हिन्दुस्तान लिए हम निकल पड़े हैं/निकल पड़े हैं, निकल पड़े हैं, निकल पड़े हैं।'

उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ सत्यार्थी की लम्बी कविता "निकल पड़े हैं, निकल पड़े हैं, निकल पड़े हैं" की हैं। कविता की लयात्मकता और गीतात्मकता ने मशहूर इंडि-फ्यूजन बैंड 'इंडियन ओशन' को इतना प्रभावित किया कि उसने इसको संगीतबद्ध करने का फैसला किया। संगीतबद्ध होकर जब यह लोगों के सामने आया तो इसने इतना सम्मोहन पैदा किया कि "भारत यात्रा" का थीम सॉन्ग बना। इस थीम सॉन्ग के कंटेंट, भाव, भाषा और संगीत ने मिलकर भारत यात्रा का ऐसा माहौल बनाया एवं उसके यात्रियों पर वह जादू किया, जिसको हम केवल सुनकर, महसूस करके ही अनुभव कर सकते हैं। भारत यात्रा के दौरान इसने बच्चों, युवाओं, महिलाओं, अभिभावकों और बुजुर्गों को बाल हिंसा के खिलाफ गोलबन्द करने में अहम योगदान

दिया। हम कह सकते हैं कि भारत यात्रा को जिन महत् उद्देश्यों के लिए निकाला गया था, उसमें इसने यात्रियों के जज्बे, जोश, जुनून और हौसलों को उभारते हुए उसको परवान चढ़ाने का काम किया। वैसे भी कोई बोल संगीत में जब ढ़लता है, तो वह लोगों को सोते से जगाने का काम करता है। संगीत में वह ताकत है, जो मुर्दों को भी जगा दे। भारत यात्रा को सम्पन्न हुए 3 साल होने को है, लेकिन इस सॉन्ग का असर अभी भी उसी तरह बरकरार है, जिस तरह 2017 में था। सत्यार्थी आन्दोलन की किसी भी गतिविधि का आगाज या समापन बगैर इसके नहीं होता।

बाल मजदूरी, हिंसा से पीड़ित पूरे हिन्दुस्तान के बच्चे इस कविता के जरिए यह संदेश दे रहे हैं कि शोषकों, उत्पीड़कों हमारे साथ तुमने जो कुछ भी किया, अब हम वैसा नहीं होने देंगे। हम तो अब तुम्हारा पाई-पाई करके हिसाब लेने निकल पड़े हैं। कविता में कवि का विश्वास बोलता है और यह विश्वास सत्यार्थी ने उनसे प्राप्त किया है, जिनको उन्होंने सम्बोधित करके कविता लिखी है। बच्चों के जानवरों से भी कम कीमत पर बेचे जाने की बात सामाजिक अध्ययन का विषय है, जो आए दिन खबरों से प्रमाणित होता रहता है।

बच्चों के प्रति बरते जा रहे सभी प्रकार की सामाजिक बुराईयों के खिलाफ सत्यार्थी के कवि ने यहाँ घमासान मचा दिया है। बाल यौन शोषण से सम्बन्धित जो रिपोर्ट प्रकाशित होती रहती है, उससे यही तथ्य उजागर होता है कि यह महामारी जान-पहचान और निकट के रिश्तेदार से ही सबसे ज्यादा पनप रही है। इसलिए कवि यहाँ मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों सबसे आह्वान कर रहा है कि अपने भविष्य को बचाने हेतु इस महामारी का समूल खात्मा करने का संकल्प लें और हमारे साथ आएँ–

"जिनको अपने बेटे प्यारे-बेटी प्यारी
जिनको अपने भाई प्यारे-बहनें प्यारी
साथ में आओ, हाथ मिलाओ, कदम बढ़ाओ

साँसों में तूफान लिए हम निकल पड़े हैं
लहूलुहान जिस्म में घायल रूह लिए हम
पैरों को फौलाद बनाकर निकल पड़े हैं
दिल में हिन्दुस्तान लिए हम निकल पड़े हैं
निकल पड़े हैं, निकल पड़े हैं, निकल पड़े हैं।"

सत्यार्थी बच्चों पर अधिकारपूर्वक तो लिखते ही हैं साथ ही जीवन की अन्यान्य गतिविधियों पर भी लिखते रहे हैं। बच्चे, प्रकृति, प्रेम और सामाजिक-राजनीतिक सरोकार उनके कवि के मुख्य सरोकार रहे हैं। इस साल मार्च महीने में रंगों का त्योहार होली जब आई, तो उन्होंने उसे मनाने से इनकार कर दिया। उन्होंने देखा कि देश की

राजधानी दिल्ली में तो लोग खून की होली खेल रहे हैं, उस स्थिति में वे रंगों की होली कैसे खेलेंगे, और किसके साथ खेल सकते हैं?

होली समानता और भाईचारे का प्रतीक है। इससे हमारी एकजुटता भी परिलक्षित होती रही है। लेकिन इस बार दिल्ली में जो जलजला आया हुआ था, खून-खराबा और कत्लेआम हुआ वे किसी भी सम्वेदनशील इंसान के रोंगटे खड़े करने के लिए काफी हैं। जलती हुई दिल्ली ने हमारे आपसी विश्वास और साम्प्रदायिक सद्भाव को तार-तार करने का काम किया। इससे हमारी सामासिक संस्कृति क्षत-विक्षत हुई। सत्यार्थी पूरे सिचुएशन को अपनी कविता में कुछ इस तरह अभिव्यक्त करते हैं—"इस बार/सिर्फ एक रंग में रंग डालने के/पागलपन ने/लहूलुहान कर दिया है/मेरे इन्द्रधनुष को।" यह इन्द्रधनुष भारत के सभी धर्मों, जातियों, भाषाओं, संस्कृतियों, क्षेत्रों का समन्वित रूप है। इस समन्वित रूप के विखण्डन का दुष्परिणाम यह हुआ है—"अब उसके खून का लाल रंग/सूख कर काला पड़ गया है/अनाथ हो गए मेरे बेटे के आँसुओं की तरह/जिनकी आँखों ने मुझे/भीड़ के पैरों तले/कुचल कर मरते देखा है।"

जिन्दा दिल्ली को दफन कर देने की कोशिश के भयावह दृश्य को सत्यार्थी के कवि ने जिस तरह महसूस किया और फिर उसको प्रस्तुत किया, उस स्थिति में कौन जमीर वाला इंसान होली मनाने की सम्वेदनहीनता दिखाएगा? किसके साथ होली मनाएगा? दिल्ली के भयानक मंजर को देखते हुए सत्यार्थी भी होली नहीं मनाने का निश्चय करते हैं। इसके बावजूद सत्यार्थी के कवि के आशावादी मन को यह विश्वास है कि यह उदास मौसम बदलेगा, क्योंकि रात के बाद ही सहर (सुबह) होती है और फिर हम सबको होली खेलने से कोई नहीं रोक पाएगा—"आसमान में टकटकी लगाकर/देखते रहना मेरे दोस्त/फिर से बादल गरजेंगे/फिर से ठंडी फुहारें बरसेंगी/फिर इन्द्रधनुष उगेगा/वही सतरंगा इन्द्रधनुष/और मेरा बेटा, तुम्हारी बेटी, हमारे बच्चे/उसके रंगों से होली खेलेंगे।"

हम देखते हैं कि श्री सत्यार्थी अपनी इस खूबसूरत कविता का अन्त महान कवि और दार्शनिक अल्लामा इकबाल के अन्दाज में करते हैं कि कुछ तो है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी। जीवन में जिस तरह ध्वंस और निर्माण का सिलसिला बना रहता है, इस कविता में भी उसका कुशल संयोजन सत्यार्थी ने किया है। नाटकीयता किसी भी बड़ी रचना की अन्यतम विशेषता होती है, जो इस कविता में भी देखने को मिलती है। हम कह सकते हैं कि सत्यार्थी ने इस कविता के जरिए अपने समय का दस्तावेज रचा है। कविता में अनायास एक विलक्षण प्रयोग हो गया है। मेरा ख्याल है कि यह प्रयोग कविता को परोक्ष रूप से सशक्त बनाने का काम करता है—"अनाथ हो गए मेरे बेटे के आँसुओं की तरह।" यह प्रयोग जो एक मेटाफर (रूपक) है, वर्तमान दिल्ली की भयावहता को दिखाने का काम कर जाता है।

इस तरह हम देखते हैं कि सत्यार्थी की कविताओं की अन्तर्वस्तु बचपन और जीवन को स्वतन्त्र, स्वस्थ, सुरक्षित और सुन्दर बनाने की है। ये हिन्दी या दूसरी भाषाओं में लिखी जा रही कविताओं से इस मायने में भी अलग हैं कि इनमें भारत का वह बचपन धड़कता हुआ प्रतीत होता है जो शोषित, पीड़ित और अधिकारों से वंचित है। सत्यार्थी उनके कवि ने भारत के इस हिस्से को समझने में 40 वर्ष खर्च किए हैं। ये कविताएँ जितनी समाजशास्त्रीय हैं, उतनी ही राजनीतिक भी। समाज के ठेकेदारों और राजसत्ता से सीधे-सीधे सवाल पूछने की हिमाकत करती हैं ये कविताएँ। इनका सूक्ष्मता से यदि हम अध्ययन करें, तो पाते हैं कि भारत की तमाम राजनीतिक पार्टियों से ये कविताएँ सवाल करती हैं कि आखिर क्या बात है कि आजादी के 73-74 सालों के बाद भी बच्चे आजतक उनके एजेंडे में शामिल नहीं हुए? हम कह सकते हैं कि सवाल बहुत ही असुविधाजनक हैं। लेकिन हमारी नींव ही मजबूत नहीं रहेगी, तो फिर उस पर ईमारत कैसे खड़ी करेंगे हम? इसलिए ये सवाल उतने ही महत्त्वपूर्ण, मौजूँ और प्रासंगिक हैं, जितने न्यू इंडिया बनाने के और सवाल।

अनुच्छेद 370 और जम्मू कश्मीर

डॉ. आनन्दी कुमार

भारतीय संविधान के निर्माण और लागू होने से लेकर आजतक सबसे अधिक विवादित और चर्चित अगर कोई अनुच्छेद है तो वह अनुच्छेद 370 है। इस अनुच्छेद के कारण दो स्वतन्त्र राष्ट्रों (भारत और पाकिस्तान) के बीच कटुता और प्रतिद्वन्दिता का माहौल बना रहा। मामला चाहे कट्टरपन्थी, अलगाववाद, धार्मिक कट्टरता, संवैधानिक, प्रशासनिक व राष्ट्रीयता का हो या नागरिकता का सभी क्षेत्रों में विवादास्पद रहा है। इन जटिल समस्याओं को दोनों देशों के हुक्मरानों ने अपने-अपने स्तर से अनेकों बार राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर रखा। लगभग 73 वर्षों के लम्बे समय तक युद्ध, आक्रमण, घुसपैठ, वार्ता, समझौता, आर्थिक प्रतिबन्ध, कूटनीति आदि का दौर चलता रहा। दोनों राष्ट्रों के जन-धन की काफी क्षति हुई। रचनात्मक और सृजनात्मक कार्य ठप्प रहा। गरीबी और बेकारी की समस्या बढ़ गई। विकास अवरुद्ध हो गया, आम जन-जीवन अस्त-व्यस्त तथा दहशत में रहा। इतना ही नहीं अनुच्छेद 370 की समाप्ति के बाद भी दोनों राष्ट्रों के बीच अमन और शान्ति स्थापित होने के बजाय तनाव और अधिक बढ़ गया।

अपनी खूबसूरती के लिए भारत का स्वर्ग कहा जाने वाला जम्मू कश्मीर लम्बे संघर्ष के बाद आखिर सही मायनों में भारत का हुआ। सात दशक के ऐतिहासिक भूल में सुधार किया गया। भारत का होने के बावजूद अलग संविधान, अलग विधान, अलग पहचान और अलग निशान से चलने वाला प्रदेश जम्मू कश्मीर अब भारत के एक संविधान, विधान, पहचान और निशान के साथ चलेगा। वर्तमान प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी और गृहमन्त्री अमित शाह ने इसे भारत का अभिन्न अंग की वैधानिकता प्रदान की। यह उनकी दृढ़ इच्छाषक्ति, अदम्य साहस और दूरदर्शिता का ही परिणाम है।

* (एसोसिएट प्रोफेसर), विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान, बीएनएम कॉलेज, बरहिया, मुंगेर विश्वविद्यालय, मुंगेर, (बिहार), मो. 9835283480

जम्मू कश्मीर पुनर्गठन अधिनियम 2019 भारतीय संसद का एक अधिनियम है। इसे भारत के उच्च सदन (राज्यसभा) में गृहमन्त्री अमित शाह ने 5 अगस्त को प्रस्तुत किया था तथा उसी दिन उस अधिनियम को राज्यसभा द्वारा प्राप्त कर दिया गया और 6 अगस्त 2019 को लोकसभा ने भी इसे भारी बहुमत से पारित कर दिया। इस अधिनियम में जम्मू कश्मीर राज्य से संविधान का अनुच्छेद 370 हटाने और राज्य का विभाजन जम्मू कश्मीर एवं लद्दाख बिना विधानसभा वाले केन्द्र शासित क्षेत्र होगा। यह अधिनियम राष्ट्रपति के हस्ताक्षर पर 31 अक्टूबर 2019 से लागू हो गया। यह तिथि इसलिए निर्धारित की गई क्योंकि उस दिन भारत के प्रथम उप-प्रधानमन्त्री सरदार वल्लभ भाई पटेल की जयन्ती है। नई वैधानिक व्यवस्था लागू होने से पड़ोसी देश और प्रभावित प्रदेश के राजनेतागण काफी दुखी और असहज महसूस कर रहे हैं। ये देश और विदेशों में इसे असंवैधानिक और अनुचित बताकर जनता को गुमराह कर रहे हैं। यहाँ राजनीतिक अस्थिरता पैदा करना चाहते हैं लेकिन जनता वास्तविकता को समझ चुकी है और वर्तमान व्यवस्था से सन्तुष्ट हैं।

अनुच्छेद 370 और जम्मू कश्मीर की समस्या को लेकर राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय मंचों पर अक्सर चर्चा होती रही है। तीसरे पक्ष का हस्तक्षेप करने की सिफारिशें भी होती रही, जिसे भारत आन्तरिक मामला बतलाकर इंकार करता रहा है। आखिर क्या है भारतीय संविधान की धारा 370?, जो इतनी गम्भीर राजनीतिक समस्या बनी हुई है। इसे सही ढंग से समझने के लिए हमें उसके अतीत का अध्ययन करने की आवश्यकता है, उसके बाद ही सही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

भारतीय संविधान में कुल 395 अनुच्छेद है जिसमें धारा 370 संविधान निर्माण के समय से ही अधिक विवादित रहा है। संविधान सभा में 1949 में इस अनुच्छेद पर बहस के दौरान काफी मतभेद हुआ था। संविधान सभा के ड्राफ्ट कमेटी के अध्यक्ष, अम्बेडकर इस धार के विरुद्ध थे, उन्होंने इस अनुच्छेद को देश के लिए विश्वासघात कहा था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही जम्मू कश्मीर राज्य के अस्तित्व की समस्या गम्भीर बनी हुई थी। उधर कश्मीर को लेकर संघर्ष चल रहा था, इधर भारत में संविधान बन रहा था। ऐसे में जरूरत महसूस की गई कि संविधान में एक ऐसी व्यवस्था की जाए जो भारत और जम्मू कश्मीर के रिश्तों में संक्रमण काल के बाद इंजाम दे। एक अन्तरिम व्यवस्था तब तक की जाए जब तक भारत अपने रिश्तों के स्वभाव को तय करने के लिए जम्मू कश्मीर राज्य को अन्य राज्यों के मुकाबले विशेष अधिकार दिया गया था। यह विशेष अधिकार विशेष परिस्थिति को ध्यान में रखकर दिया गया जिसमें यह रियासत भारत में शामिल हुए। इस अनुच्छेद के अनुसार यह राज्य अपना संविधान खुद तैयार कर सकता था।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 246 में केन्द्र और राज्य सरकार के अधिकारों का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत अनुसूची 7 में राज्य सूची, केन्द्र सूची एवं समवर्ती सूची तैयार की गई है। राज्य सूची पर राज्यों के विधान मंडल को, केन्द्र सूची पर केन्द्रीय विधान मंडल (संसद) को वही समवर्ती सूची के विषयों पर केन्द्रीय विधान मंडल और राज्य विधानमंडल की सरकारी कानून बना सकती है। समवर्ती सूची के विषय पर दोनों में मतभिन्नता होने पर केन्द्र को दिशा निदेश देने का अधिकार है। परन्तु ।तज 370 में यह प्रावधान है कि ऐसे विषयों पर केन्द्र सरकार का दिशानिर्देश, उस राज्य की सरकार से परामर्श करके ही जारी किया जाए अथवा नहीं।

अनुच्छेद 370 का विशेष प्रावधान

अक्टूबर 1949 को एक ऐसी घटना घटी जिसने जम्मू कश्मीर का इतिहास बदल दिया। उस दिन संसद में गोपाल स्वामी अयंगार ने कहा कि जम्मू कश्मीर को एक नया अनुच्छेद देना चाहते हैं। कारण पूछने पर उन्होने बताया कि आधे कश्मीर पर पाकिस्तान ने कब्जा कर लिया है और आधे इस राज्य के साथ हैं, फिर इनकी और भी समस्याएँ हैं। आधे लोग उधर फँसे हुए हैं और आधे इधर। अभी वहाँ की स्थिति अन्य राज्यों से अलग है, तो ऐसे में वहाँ के लिए फिलहाल एक अनुच्छेद की जरूरत है। अतः अस्थायी तौर पर उसके लिए धारा 370 लागू करनी होगी। जब हालात सामान्य हो जाएगा तो हटा दिया जाएगा। फिलहाल वहाँ धारा 370 से काम चलाया जा सकता है। बहुत कम चर्चा के बाद इसे पास कराया गया, जो भारतीय संविधान में सबसे आखिरी में जोड़ी गई धारा थी। इस धारा के सम्बन्ध में लिखा गया है कि "टेंपरेरी प्रोविजन फॉर स्टेट ऑफ जम्मू कश्मीर"।

धारा 370 भारतीय संविधान के भाग 21 में अस्थायी संक्रमणकालीन और विशेष उपबन्ध के अधीन है। अस्थायी अनुच्छेद होने के कारण इस विवादित प्रावधान समाप्त करने की माँग प्रारम्भ से ही उठती रही है। यह विशेष उपबन्ध जम्मू कश्मीर राज्य के विकास में केन्द्र के हस्तक्षेप को सीमित करती थी। इसी का लाभ उठाकर अलगाववादी शक्तियाँ भारत के विरुद्ध उग्र और हिंसात्मक संघर्ष करती रही है। ।तज 370 को भारतीय संविधान में पूर्व प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू और जम्मू कश्मीर के महाराजा हरि सिंह के मध्य हुए समझौते के बाद जोड़ा गया था।

भारतीय संविधन के 21वें भाग का एक अनुच्छेद 370 है। दरअसल 21वें भाग को बनाया ही गया अस्थायी प्रावधानों के लिए था जिसे हटाया जा सके। इस धारा के तीन खंड है, इसके तीसरे खंड में लिखा गया है कि भारत के राष्ट्रपति द्वारा जम्मू-कश्मीर की संविधान सभा के परामर्श से धारा 370 को कभी भी खत्म किया जा सकता है। जब कोई धारा टेम्परेरी बनाई जाती है तो उसके सीज करने या हटाने की प्रक्रिया भी लिखी जाती है। उसमें लिखा गया है कि प्रेसिडेंट ऑफ इंडिया जब उचित

समझें और उन्हें लगे कि समस्याओं का हल हो गया है या जनजीवन सामान्य हो गया है तो वह उस धारा को हटा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धारा 370 भारत की संसद लेकर आई है और वही इसे हटा सकती है। इस धारा को जम्मू कश्मीर की विधानसभा या वहाँ का राजा लेकर नहीं आया, जो हटा नहीं सकते हैं। यह धारा इसलिए लाई गई थी क्योंकि तब वह युद्ध जैसी हालत थी और उधर पीओके (च्ज्ञ) की जनता इधर पलायन करके आ रही थी। ऐसे में वहाँ भारत के सम्पूर्ण संविधान को लागू करना शायद नेहरू ने उचित नहीं समझा।

भारत में विलय सम्बन्धी दस्तावेज

भारत और पाकिस्तान के बँटवारे के लिए भारतीय स्वतन्त्रता कानून, 1947 लागू हुआ। इस कानून में भारत और पाकिस्तान के साथ 565 रियासतों की सम्प्रभुता को बरकरार रखते हुए उन्हें तीन विकल्प दिए गए थे। पहला, वे स्वतन्त्र देश के रूप में अपना अस्तित्व बरकरार रख सकते थे। दूसरे, वे भारत में शामिल हो सकते थे और तीसरा अन्तिम विकल्प के तहत वे रियासतें पाकिस्तान के साथ जा सकती थी। वे रियासतें जो भारत और पाकिस्तान के साथ जुड़ने के इच्छुक थी, उनका विलय इसी इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेसन के तहत किया गया। हालाँकि इसका कोई तय मसौदा नहीं था, लेकिन विपरीत स्थिति में रियायत अपने मूल स्थिति में जाने को स्वतन्त्र थी। वैसे तो जम्मू कश्मीर, हैदराबाद और जूनागढ़ छोड़कर लगभग सभी रियासतों के नरेश ने अपने रियासत को भारत अथवा पाकिस्तान में 15 अगस्त 1947 के पूर्व ही सम्मिलित कर लिया था।

कश्मीर के भारत में विलय को लेकर इंस्ट्रूमेंट और एक्सेसन में प्रावधान किया गया कि रक्षा, विदेश मामले और संचार को छोड़कर केन्द्रीय संसज राज्य को लेकर कोई कानून नहीं बना सकेगी। दस्तावेज में जम्मू-कश्मीर के शासक तत्कालीन राजा हरि सिंह विशेष रूप से कहा है कि, मेरे विलय के दस्तावेज में किसी भी कानून द्वार या भारतीय स्वतन्त्रता कानून द्वारा कोई संशोधन नहीं किया जा सकता है जब तक कि वह मुझे स्वीकार न हो।

भारत में विलय

भारत में विलय के समय तत्कालीन जम्मू-कश्मीर के शासक महाराजा हरि सिंह शुरुआत में तो स्वतन्त्र रहने की इच्छुक थे और भाारत और पाकिस्तान से यथास्थिति का समझौता करना चाह रहे थे। पाकिस्तान से इस आशय का समझौता वे कर भी चुके थे परन्तु परिस्थिति बदलते देर नहीं लगी। पाकिस्तान की नापाक नजर इस रियासत पर शुरू से ही लगी हुई थी। मुस्लिम बहुल इस रियासत को खोना नहीं चाहता था। एक सच्चाई यह भी थी कि महाराजा हरि सिंह पाकिस्तान के साथ जाना

नहीं चाहते थे जिसके कारण माउंटबेटन और नेहरू उनसे काफी नाराज थे। इस बीच 22 अक्टूबर 1947 को पाकिस्तानी सैनिकों ने रियासत पर हमला कर दिया। यह कार्रवाई इतनी सुनियोजित थी कि महाराजा हरि सिंह को इसकी खबर 1 दिन बाद मिली। लाचार हरि सिंह के पस अपनी रियासत को बचाने का कोई विकल्प नहीं थ। उन्होंने भारत से मदद माँगी। 24 अक्टूबर को महाराजा ने भारत सरकार को पत्र लिखा कि मेरे रियासत जम्मू कश्मीर को भारत में विलय कर लिया जाए और हमे तुरन्त सैनिक सहायता दी जाए। 26 अक्टूबर 1947 को उन्होंने इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेसन (ओई.ओ.ए.) पर हस्ताक्षर किए। 27 अक्टूबर को गवर्नर जनरल लॉर्ड माउंटबेटन इसे स्वीकार किया। भारत की स्पष्ट नीति थी कि विलय के समय विवाद होने की स्थिति में उसके समाधान में रियासत के शासक के मनमाने निर्णय की जगह रियासत की जनभावना को ध्यान में रखा जाएगा। भारत के आई.ओ.ए. स्वीकार करने पर लॉर्ड माउंटबेटन ने कहा था—"यह मेरी सरकार की इच्छा है कि जैसे जम्मू कश्मीर की-कानून व्यवस्था दुरुस्त होती है और वहाँ की जमीन से घुसपैठिए बाहर खदेड़ जाएँगे तो वहाँ की अवाम की भावना के अनुसार राज्य का विलय सुनिश्चित किया जाएगा।" यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि विलय पत्र के अनुसार सम्मिलन बिना शर्त था, किन्तु माउंटबेटन ने शर्त का पत्र लिख दिया था। अर्थात् स्थिति सामान्य होने पर वहाँ जनमत संग्रह कराई जाएगी। इस तरह जम्मू कश्मीर राज्य भारत का हिस्सा संविधान के Art 370 के कारण नहीं है। उसका विलय गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एकट 1935 के आधार पर बनी इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेशन (Instrument of Accession) के आधार पर है। इसी पत्र पर जम्मू कश्मीर रियासत के महाराजा हरि सिंह 26 अक्टूबर को हस्ताक्षर किया तथा गवर्नर जनरल माउंटबेटन 27 अक्टूबर 1947 को उसे स्वीकार करते हुए हस्ताक्षर किया था।

भारतीय सेना के पहुँचते ही कबायलियों और कबायलियों के नाम पर घुसे पाकिस्तानी सेना के पैर उखड़ गए। 29 अक्टूबर 1947 को माउंटबेटन ने पंडित नेहरू से लड़ाई रोकने को कहा। नेहरू के कहने पर युद्ध रोक दिया गया। हालाँकि सेना के अधिकारी ने सरकार से 24 घंटे का समय और देने को कहा था। इतने समय में कश्मीर का पूरा भाग खाली करा लिया जाएगा। इस पर पंडित नेहरू तैयार नहीं हुए। यही बचा हुआ क्षेत्र है, जिसे पाकिस्तान स्वतन्त्र (आजाद) कश्मीर कहता है और भारत इसे पाक अधिकृत कश्मीर कहता है।

जम्मू कश्मीर की समस्या और Art 370 के मद्दे को पाकिस्तान द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में बार-बार उठाया जाता रहा है। पाकिस्तान का अन्तरराष्ट्रीय हस्तक्षेप के लिए अनुरोध का मूल उद्देश्य जम्मू कश्मीर पर अपना अधिक से अधिक हक प्राप्त करना था।

जम्मू कश्मीर मुद्दे पर माउंटबेटन के कहने पर पंडित नेहरू ने पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री लियाकत अली खान को पत्र लिखा लेकिन उन्हें उसका कोई जवाब नहीं मिला। उनका कहना था कि पाकिस्तान का इस घटना से कोई लेना देना नहीं है, यह कश्मीरियों की लड़ाई है। पाकिस्तान उसमें न पार्टी बनना चाहता है और न ही किसी का हस्तक्षेप करना चाहता है। इस प्रश्न को लेकर माउंटबेटन ने तब इंग्लैंड के तत्कालीन प्रधानी एटली से सम्पर्क किया। उन्होंने भी इस मामले में हस्तक्षेप करने से मना कर दिया लेकिन एक सुझाव दिया कि आप चाहे तो इस समस्या को UNO ले जा सकते हैं। सरदार पटेल और गांधी संयुक्त राष्ट्र संघ में एक समस्या को लेकर जाने के विरोधी थे।

30 दिसम्बर 1947 को सरदार पटेल ने प्रधानमन्त्री नेहरू को पत्र लिखकर सूचित किया कि वह 31 दिसम्बर 1947 को असम, ओडिशा के दौरे पर जा रहे हैं वहाँ कुछ रियासतों की समस्या सुलझानी है। 31 दिसम्बर 1947 को पटेल के रवाना होने के बाद शाम को माउंटबेटन के ऑफिस में तैयार एक आवेदन पत्र संयुक्त राष्ट्र संघ में देने के लिए भारत के स्थायी प्रतिनिधि को टेली प्रिंटर से भेज दिया गया साथ ही साथ यह भी कहा गया कि इसकी एक प्रति पाकिस्तान के प्रतिनिधि को भी देना है। इस प्रकार 1 जनवरी 1948 को यह आवेदन UNO पहुँच गया।

7 जनवरी 1948 को सरदार पटेल के दिल्ली लौटने पर पंडित नेहरू ने पत्र लिखकर उन्हें बताया कि आपके पीछे हमें एक जरूरी निर्णय लेना पड़ा। आप होते तो और अच्छा होता। गोपाल स्वामी आयंगर के नेतृत्व में एक प्रतिनिधिमंडल भी UNO भेज दिया गया। आयंगर 1905 बैच के ICS अधिकारी थे, अंग्रेजों द्वारा अनेक सम्मान से उन्हें सम्मानित किया गया था। स्वतन्त्र भारत के पहले मन्त्रिमंडल में वह बिना विभाग के मन्त्री थे। उन्हें अंग्रेजों ने जम्मू-कश्मीर का दीवान (1937-1942) बना कर रखा था। कश्मीर के मामले में सरदार पटेल के कामों में हस्तक्षेप करते थे उन्हें पंडित नेहरू और माउंटबेटन के पूरा समर्थन प्राप्त था।

UNO में भारत और पाकिस्तान अपना अपना पक्ष रखे थे, अलग बात है परन्तु अन्तरराष्ट्रीय मंच पर कोई अपने देश के विरुद्ध जनमत संग्रह की बात कहे, तो इससे ज्यादा शर्म की बात और क्या हो सकती है? माउंटबेटन ने अपने पत्र में लिखे जनमत संग्रह की बात को अन्तरराष्ट्रीय बना दिया। इसी 'जनता से पूछ लीजिए' का विस्तार था Art 370। पंडित नेहरू माउंटबेटन की इच्छा पर समर्थन करते रहे और कश्मीर समस्या गहराती गई।

UNO में आवेदन देने का गांधीजी ने विरोध किया था साथ ही महाराजा हरि सिंह ने एक पत्र भारत सरकार को लिखते हुए कहा था कि जब हमने जम्मू-कश्मीर रियासत का विलय बिना सर्च किया था तो फिर UNO में आवेदन देकर आप कोई कैसे थोप सकते हैं। UNO ने आवेदन पर विचार उपरान्त निर्णय लिया कि—

1. जम्मू कश्मीर राज्य का भारत में विलय बात है,
2. जम्मू कश्मीर राज्य से पाकिस्तान अपनी पूरी सेना और नागरिक हटा ले, और
3. सम्पूर्ण जम्मू कश्मीर का स्वामित्व भारत अपने पास ले ले। स्थिति सामान्य होने पर भारत की इच्छा अनुसार अन्तरराष्ट्रीय देखरेख में वहाँ जनमत संग्रह करा लिया जाए।

पाकिस्तान और कश्मीर के अलगाववादी ताकतों UNO के तीसरे प्रस्ताव को स्वीकारते हुए जनमत-संग्रह का दबाव भारत सरकार पर बनाते रहे लेकिन भारत सरकार दूसरे प्रस्ताव को कश्मीर से हटने की बात को मजबूती से कभी नहीं उठाया। उधर पाकिस्तान जम्मू कश्मीर के इस भाग को पाकिस्तान का हिस्सा नहीं कहता है, वह इस क्षेत्र को स्वतन्त्र कश्मीर कहता है।

Art 370 अस्थायी प्रावधान था, जिसे भारत के कुछ राजनेता इसे बनाए रखने के लिए वकालत करते रहे थे। इस धारा को ऐसे राजनीतिक दलों ने मुसलमानों के अधिकार से जोड़ दिया था जो अनुचित था।

क्या था अनुच्छेद 370?

धारा 370 के मुताबिक भारत सरकार जम्मू कश्मीर के मामले में सिर्फ तीन क्षेत्रों रक्षा, विदेश मामले और संचार के लिए कानून बना सकती थी। इसके अलावा किसी कानून को लागू करने के लिए राज्य सरकार की मंजूरी चाहिए थी। इसके कई और प्रावधान बनाए गए। जम्मू कश्मीर को विशेष का अधिकार प्राप्त था। दोहरी नागरिकता (एक जम्मू कश्मीर और दूसरी भारत) थी और अलग-अलग संविधान था। विधानसभा का कार्यकाल 6 वर्ष का था। बाहरी लोग सम्पत्ति नहीं खरीद पाते थे। कश्मीर में अल्पसंख्यकों (हिन्दू-सिख) को आरक्षण नहीं मिलता था। धारा 356 लागू नहीं हो सकता था। उच्चतम न्यायालय के आदेश जम्मू-कश्मीर के अन्दर लागू नहीं था। पुलिस मुख्यमन्त्री को रिपोर्ट करती थी। RTI, RTE तथा CAG लागू नहीं था। कश्मीर में महिलाओं पर शरियत कानून लागू होता था। जम्मू कश्मीर की कोई महिला यदि भारत के किसी अन्य राज्य के व्यक्ति से विवाह कर ले तो उस महिला की नागरिकता समाप्त हो जाती थी, इसके विपरीत वह पाकिस्तान के किसी व्यक्ति से विवाह कर ले तो उसे भी जम्मू-कश्मीर की नागरिकता मिल जाती थी। इस धारा की वजह से ही पाकिस्तानियों को भारतीय नागरिकता मिल जाती थी। इसके लिए पाकिस्तान को केवल किसी कश्मीरी लड़की से शादी करनी होती थी। इस धारा के अनुसार राज्य के नीति निर्देशक तत्व (Art. 36 से 51 तक) तथा मूल कर्त्तव्य (Art. 51a) जम्मू कश्मीर राज्य पर लागू नहीं होते थे।

1949 में जम्मू कश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा देकर इसे एक तरह से भारत क एक संवैधानिक उपबंधुओं से अलग कर दिया गया। 1954 में अनुच्छेद 35A जोड़ने से जम्मू-कश्मीर की स्वतन्त्रता को और मजबूती दिया गया। जिसके तहत मूलतः जम्मू कश्मीर विधानसभा को राज्य के स्थायी निवासी की परिभाषा तय करने का अधिकार दिया गया था। इसे 14 मई 1954 को तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने एक आदेश पारित करके भारत के संविधान में जोड़ा था। इस आदेश के माध्यम से भारत के संविधान एक नया अनुच्छेद 35A जोड़ दिया गया। जब 1956 में जम्मू-कश्मीर द्वारा संविधान अपनाया गया तो उसमें स्थायी नागरिक को भी संपत्ति, रोजगार और सरकारी योजनाओं का लाभ लेने का हक दिया गया। इससे भारत के किसी अन्य राज्य का कोई न तो वहां अचल संपत्ति बना या खरीद सकता था और न ही सरकारी योजनाओं का लाभ ले सकता था। इसे लेकर सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि यह राष्ट्रपति के आदेश से लागू हुआ था और इसे संसद की मंजूरी नहीं मिली थी। जबकि इस तरह के संवैधानिक अधिकार केवल संसद को है।

इस तरह धारा 367 और 35A विशेषाधिकार के कारण यह जम्मू-कश्मीर भारत के अंतर्गत रहकर भी अलग था। यह वही धारा है जो हमारे नेतागण के ऐतिहासिक मूल के कारण जम्मू करगीर इतने समय तक विवादित रहा तथा वहाँ की निर्दोष जनता आतंकवादियों, अलगाववादियों और धार्मिक कट्टरपंथियों के हिंसा, दमन और शोषण का शिकार होती रही।

अब जम्मू-कश्मीर पूर्ण गठन बिल 2019 दोनों सदनों से पास हो गया है। राष्ट्रपति के हस्ताक्षर उपरांत 31 अक्टूबर 2019 से लागू भी कर दिया गया है। इसके अनुसार अनुच्छेद 370 तथा 35A को हटा दिया गया है और जम्मू-कश्मीर को राज्य का दर्जा समाप्त कर दिया गया है। अब जम्मू कश्मीर केंद्र शासित प्रदेश में बदल गया है—जम्मू-कश्मीर और लद्दाख भारत में 29 राज्य और 9 केंद्र शासित प्रदेश हो गए हैं। जम्मू कश्मीर की धारा 370 के तीन खंडों में सिर्फ एक खंड लागू है जिसके तहत जम्मू कश्मीर में दिल्ली की तरह विधानसभा होगी और विधानसभा का कार्यकाल 5 वर्ष तक होगा तथा उच्चतम न्यायालय के आदेश मान्य होंगे। भारत के नागरिक जम्मू कश्मीर में जमीन खरीद सकेंगे। केंद्र शासित प्रदेश जम्मू कश्मीर में Art. 356 तथा 360 RTI, RTE तथा CAG आदि लागू होंगे।

उपर्युक्त संवैधानिक अनुच्छेद के समाप्त होने के बाद वहाँ की सरकार और व्यवस्था में काफी परिवर्तन हुआ है। कतिपय अपवादो को छोड़कर भारत के अन्य प्रदेशों तथा पेंद्र शासित प्रदेशों की तरह जम्मू-कश्मीर में सुव्यवस्थित ढंग से शासन चल रहा है। यह अलग बात है कि तत्कालीन सामाजिक और प्रशासनिक व्यवस्था

को संचालित करने में कुछ कठिनाइयाँ आ रही है, जिसे निकट भविष्य में दूर हो जाने की संभावना है।

जम्मू कश्मीर के सम्बन्ध में राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय राजनीतिक मंच पर यह सन्देह होने लगा था कि क्या जम्मू-कश्मीर भारत का हिस्सा है? इसकी मूल बजह अनुच्छेद 370 ही था। हमेशा सरकार और संसद को यह कहता पडता था कि जम्मू-कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है। फिर भी सन्देह दूर नहीं होता था क्योंकि इस तरह का जवाब तगभग 7 दशकों से दिया जा रहा था। परन्तु अनुच्छेद 370 को समाप्त करने से विश्व में यह सन्देश गया कि जम्मू-कश्मीर भारत का आन्तरिक मामला है। पाकिस्तान की कश्मीर मामले में दखल अन्दाजी भारत के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप है यही कारण है कि दुनिया के देशों भारत के प्रति समर्थन जताया गया जबकि पाकिस्तान की बुरी तरह से निंदा की गई, उन्हें फटकार मिली।

वर्तमान में भारत सरकार के द्वारा लिए गए अभूतपूर्व निर्णय प्रशंसनीय हैं, जिसमें जम्मू कश्मीर एवं लद्दाख को दो अलग-अलग केन्द्र शासित प्रदेश बनाया गया। दोनों के विकास और पूर्ण निर्माण की जिम्मेदारी मोदी सरकार ने लेकर एक सराहनीय कदम उठाया।

बदलाव के साथ विकास का लक्ष्य वर्तमान सरकार का है। केन्द्र सरकार का यह आश्वासन भी स्वागत योग्य है कि जम्मू-कभीर की स्थिति में सुधार और विकास में स्थिति सामान्य होते ही जम्मू-कश्मीर को पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया जाएगा। अब वहाँ की जनता में प्रबल इच्छा होनी चाहिए ताकि पुणः राज्य का दर्जा प्राप्त करे।

अनुच्छेद 370 के सम्बन्ध में अतीत से लेकर अब तक के संवैधानिक (सैद्धान्तिक) और अध्ययन से पता चलता है कि तत्कालीन परिस्थितियों में बाध्य होकर कुछ कठोर उचित और अनुचित निर्णय लेने होते हैं, जिसका दूरगामी परिणाम के गहन रूप से आने वाली व्यवस्था पर पड़ता है। इसका दुष्प्रभाव भविष्य के निर्दोष जनता पर पड़ता है। परन्तु राजनीतिक व्यवस्था में स्थिरता नहीं गतिशीलता होती है, स्थाई नहीं अस्थाई होता है; क्योंकि एक घटना निर्णय अपने कई कारणों को संजोए रहती है जिसे समझ पाना आसान नहीं होता है। इसलिए कहा भी गया है कि राजनीति में निर्णय निर्माण करना कभी भी आसान नहीं होता।

मानव प्रवास के साथ बदलता भौगोलिक भाषा-विज्ञान और उनका सांस्कृतिक एवं नृजातीय बोध

डॉ. हरेराम सिंह

भौगोलिक एवं नृजातीय भाषा विज्ञान (Geographyical and anthropological Linguistic) को अध्ययन की सुविधा के लिए भाषा विज्ञान (Dialectology) कहा जाता है। हम्बोल्ट के अध्ययन के बाद मानव जाति-विज्ञान एवं भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अनेकों कार्य हुए। डॉ. कुरेश, जे. डब्ल्यू पावेल, ब्लमफील्ड, सी मीनॉफ, गिलेरी एवं एडमंड के कार्य काफी महत्त्वपूर्ण हैं।

अध्ययन में तेजी के साथ-साथ इसका स्वरूप वर्णात्मक से संरचनात्मक होते जा रहा है। भौगोलिक सीमाओं के वैज्ञानिक अंकन तथा नृजातीय भाषा-संसार के अध्ययन में बढ़ती रूचियों के कारण तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का विकास तेजी से हुआ है। अनुवाद के क्षेत्र में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का विशिष्ट योगदान है।

किसी भी क्षेत्र विशेष में बसने वाली जनसंख्या उस क्षेत्र का जीवन्त सांस्कृतिक संसाधन है। यह युगों-युगों के प्रयास से, अनवरत संघर्ष से और जीने की अपनी जीजिविषा से तैयार होती है। उस क्षेत्र विशेष के भौगोलिक भू-दृश्यों के अनुरूप ही वहाँ का सांस्कृतिक भू-दृश्य का भी निर्धारण होता है। या यूँ कहें किसी भी क्षेत्र के सांस्कृतिक भू-दृश्य पर भौगोलिक भू-दृश्य का प्रभाव होता है।

भौगोलिक एवं सांस्कृतिक भू-दृश्य के अनुरूप ही वहाँ का भाषायी स्वरूप बनता है जो नृजातीय मानव प्रवासन के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान पर बदलते रहता है। यह बदलाव साफ परिलक्षित होता है। इन्हें अलग-अलग करना असंभव नहीं, परन्तु कठिन अवश्य है।

भाषायी बदलावों को समझने के लिए हमें भाषा-विज्ञान की बारीकियों एवं जनसंख्या प्रवासन के काल एवं दिशा का बोध होना चाहिए। नृजातीय समूह अपने

मधेपुरा, सम्पर्क : ग्राम-बहादुरपुर, पो.-नीमा प्रखण्ड-मनिहारी, जिला-कटिहार (बिहार) पिन-854117
मो. नं. 8544034280 E-mail : hareram2072@gmail.com

कारवाँ के साथ जिन-जिन क्षेत्रों से होकर गुजरते हैं वे उन क्षेत्रों के अन्य नृजातीय (भाषायी) समूहों पर प्रभाव डालते हैं। लेकिन नृजातीय समूह की सांस्कृतिक एकता एवं अन्य समूहों से अलगाव उनकी भाषा, रीति-रिवाज एवं सामाजिक मान्याताओं को सुरक्षित बनाये रखने में मदद करती है।

भारत में बंजारे, मदारी और दूसरे लोग लाखों की संख्या में हैं जिनका कोई स्थायी निवास नहीं है। ये अपने सिरकी में घुमते और भालू, बन्दर का नाच-तमाशा दिखाते छोटे-छोटे हस्तशिल्प के सामान को बेचकर अपनी अजीविका चलाते हैं और एक-दूसरे स्थान पर घुमते रहते हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार भारत में विचरण करने वाले ये लोग 7वीं एवं 8वीं शदी के यूरोप तक फैल चुके थे। इंग्लैंड में 'जिप्सी' रूस में 'सिगाम', ईरान तथा मध्य एशिया में, 'लूली' कहे जाने वाले धुमन्तु जातियाँ रोमन रोमनी नम से जने जाते हैं जो भारतीय डोम-डोमनी जाति का अपभ्रंश है।

इन जातियों की खोज भाषा-विज्ञान के आधार पर की गई है। इनके भाषा में लगभग 200 शब्दों को राहुल जी ने खोजा है, जो भारत के हिन्दी, भोजपुरी, अवधी आदि भाषाओं से लिया गया है। बहुत से शब्दों का अर्थ एवं उच्चारण हमारी इन भाषाओं के सामान ही है परन्तु कुछ अपभ्रंश रूप में भी प्रचलित हैं–

रोमनी	हिन्दी	रोमनी	भोजपुरी
काको	काका	अमरो	हमरो
काकी	काकी	मारेला	मारैला
च्योरी	चोरी	लेला	लैला
पानी	पानी	राखेस	राखेस (अवधी)
बकरा	बकरा		
मनुस्	मनुष्य		
माछो	मछली		
ससूई	सास		
रूपये	रूपैया		

पूर्वी उत्तर प्रदेश के 15 और पश्चिमी बिहार के 7 जिले कुल 22 जिलों के भोजपुरी भाषी जनता को जब ब्रिटिश सरकार द्वारा उष्ण कटिबंधीय द्वीपों पर बागवानी कृषि के कार्यों में लगाया गया तो 200 वर्षों के बाद भी वे अपनी भाषा को न भूले और न ही अपने सांस्कृतिक-गौरव को कम होने दिया है। इण्डोनेशिया एवं पूर्वी द्वीप-समूह एवं दक्षिणी अमेरिका तथा अफ्रीका के देशों में ये जहाँ भी गये अपनी-अपनी भाषा को लेकर गये। आगे-आगे भोजपुरी और पीछे-पीछे हिन्दी गई। यही कारण है कि आज दुनियाँ के लगभग 50 देशों में हिन्दी बोली जाती है।

आधुनिक विज्ञान के विकास के कारण जब कोई समूह अन्य समूहों के सम्पर्क में जिस तेजी से आ रहे हैं उसी तेजी से वे अपनी भाषायी एकता को खो भी रहे हैं। छोटानागपुर क्षेत्र के खनिज संसाधन के विदोहन के लिए जब से वहाँ बाहरी समाज के लोगों का प्रवेश हुआ है, वहाँ की बहुसंख्यक आबादी प्रभावित हुई है। इससे बचने के लिए स्थानीय आदिवासियों ने समय-समय पर सफल/असफल आन्दोलन भी किए हैं। दीकूओं (बाहरी व्यक्ति) के आने से समस्या बढ़ी है, परिणाम स्वरूप यहाँ के आदिवासियों की सांस्कृतिक एवं भाषायी एकता कमजोर हुई है।

भारतीय राज्यों के बीच होने वाले जनसंख्या प्रवास के कारण भी भाषा सम्बन्धी प्रभाव देखने को मिलते हैं। दिल्ली की उर्दू जुबान की जगह पर पंजाबी ने धाक जमायी। बम्बई स्टाईल में भोजपुरी की छौंक रोजगार की तलाश में होने वाले प्रवास के कारण भाषायी समस्या उत्पन्न हुई हैं। दक्षिण भारतीय नगर बंगलुरू भी इससे अछुता नहीं है। भारत की पूर्व राजधानी नगर कोलकाता में बंगाली संस्कृति एवं भाषा का प्रभाव प्रवासियों पर उतना अधिक नहीं पड़ा जितना कि आम बंगालियों के जीवन-शैली में है।

झारखण्ड से पलायन कर असम के चाय बगानों में काम करने वाले सन्थालों की भाषा का उतना ह्रास हमें नहीं देखने को मिलता है। झारखंड के गिरि-उपत्यकाओं एवं असम के पूर्वी हिमालय की वादियों दोनों में वन्य जातियाँ पर्वतीय विशिष्टताओं तथा अपने नृजातीय-संस्कृति बोध के कारण भाषा को नहीं छोड़े हैं। यही कारण है कि ये जनजातीय होने के बावजूद गैर असमी लोगों के रूप में चिह्नित किये गये एवं आतंकी हिंसा के शिकार बने।

पश्चिमी बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश के बहुत से लोग 18वीं-19वीं शताब्दी में कोलकाता और उसके आस-पास के औद्योगिक उपकेन्द्रों में जाकर बस गये। कोलकाता इस क्षेत्र में पूरब में था फलस्वरूप, यहाँ बसने वालों को पूरबिया कहा जाने लगा। इन पूरबियों के नाम पर हर्ष-वियोग के ढेर-सारी कविताएँ रची गई। रायबहादुर भिखारी ठाकुर इसी पुरबिया रचना के कारण भोजपुरी भाषा के शेक्सपीयर के रूप में अलंकृत होकर विश्व प्रसिद्ध हुए।

बिहार के पूर्वोत्तर भाग जिसमें किशनगंज, पूर्वी अररिया, पूर्वी पूर्णियाँ तथा उत्तर-पूर्वी कटिहार का हिस्सा आता है—सीमांचल के नाम से मशहूर है। इस क्षेत्र में बसे लगभग 50 लाख लोगों की भाषा सूर्यापुरी है। यहाँ की आबादी में 70 प्रतिशत मुसलमान एवं 30 प्रतिशत हिन्दू हैं। यहाँ के हिन्दूओं और मुसलमानों के बीच कभी भी भाषायी एवं सांस्कृतिक एकता भंग नहीं हुई। इनके रहन-सहन, खान-पान एवं पहनावा में गजब की एकता है। इस भाषा पर बंगला, मैथिली एवं नेपाली का प्रभाव देखा जा सकता है। महानन्दा नदी के धारा इसे दो भागों में बाँटती है।

प्राचीन भारत में आर्यों एवं अनार्यों के आपसी युद्ध एवं हार-जीत से उपजी गुलामी के कारण भाषायी एकता में बाधा पहुँची। आर्यो के विजय से संस्कृत स्थापित हुई तो अन्य तात्कालीन भारतीय भाषाएँ विस्थापित हुई। इनका राजकाज एवं शासन व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा। सुर (सुरपान करने वाले), असुर (सुरापान नहीं करने वाले), मानव (मान करने या रखने वाले), दानव (दान करने वाले), रक्षक (रक्षा करने वाले) अपभ्रंश में राक्षस जैसे शब्द प्रचलन में आये।

वैदिक ऋचाओं के गायन एवं याक्षिक क्रियाओं द्वारा नये शब्द व्यवहार में लाये गये। व्यापक प्रभाव होने के बावजुद जनमानस में संस्कृत लोकप्रिय नहीं हो सका। केवल शासन एवं धार्मिक अनुष्ठान में ही इसका प्रयोग होता था। महामानव तथागत बुद्ध ने अपना उपदेश पाली भाषा में किया जो उस समय जनसाधारण की भाषा थी। पाली भाषा बौद्ध धर्म के साथ-साथ विदेशों में गई और प्रतिष्ठित हुई।

निष्कर्ष : मानव प्रजाति के स्थानान्तरण से भाषा के भौगोलिक प्रदेश में बदलाव आता है। एक भाषा-भाषी समूह जब दूसरे प्रदेश में जाते हैं तो अपने साथ-साथ अपने भाषायी प्रभाव को भी लेकर जाते हैं। यह भाषायी प्रभाव आव्रजन करने वाले लोगों के साथ आता है और स्थानीय लोगों की भाषा में प्रवेश करता है जिससे एक भाषिक प्रदेश की परम्परागत सीमा में बदलाव आता है। वही किसी समूह के सांस्कृतिक एवं नृजातीय बोध उस भाषा के मूलस्वरूप को बिगड़ने नहीं देता और उसे बचाये रखता है। विद्वानों ने इसे ही भाषायी आत्म-गौरव कहा है। आज ज्ञान-विज्ञान, मानवीय कौशल विकास, सामुहिक सामाजिक-आर्थिक प्रतिष्ठा के लिए विज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र को भी भाषा एवं दर्शन की तरह ही स्थानीय भाषा (मातृभाषा) में प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है और इसी तकनीक के माध्यम से समान सामाजिक-आर्थिक प्रगति होगी। हमारा मानव समाज सुखी एवं आत्मनिर्भर होगा।

उपन्यास का विकास काल और महिला उपन्यासकारों की भूमिका

डॉ. नीलू अग्रवाल

उपन्यास वह गद्य रूप है जिसे आधुनिक युग का महाकाव्य कहा जा सकता है। महाकाव्य में उस प्रबन्ध की ध्वनि है जो जीवन के बहुविध विस्तार को समझने में सक्षम है। हमारे यहाँ उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ऐसी कृतियाँ मिलने लगती हैं जिन्हें उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। भारतेन्दु के एक अधूरे उपन्यास से शब्द लेकर कहें तो 'वह आप बीती भी है और जग बीती भी।' वह एक समूचा वृत्तान्त भी है और नए प्रयोगों तक आते-आते खण्ड-खण्ड में भी सम्पूर्ण नजर आता है। वस्तुतः 'उपन्यास' शब्द में ही अर्थ की विविधता है। जीवन के सभी रूपों के बीच कोई ऐसा सम्बन्ध होता है जिसे उपन्यास उद्घाटित करता है। किस्सागोई के अनेक रूप और गल्प या आख्यान के अनेक रूप इसमें घुल मिल गए हैं। और इन सबके साथ हम देखते हैं कि यह एक आधुनिक गद्य रूप है जो जीवन को समग्रता में या कभी टुकड़ों में देख पाता है।

'हिन्दी साहित्य कोश' के खण्ड एक में उपन्यास शब्द का अर्थ करते हुए कहा गया है, ''यह शब्द उप-समीप तथा न्यास-थाती के योग से बना है। जिसका अर्थ हुआ मनुष्य के निकट रखी वस्तु। अर्थात् वह वस्तु या कृति जिसको पढ़ कर ऐसा लगे कि यह हमारी ही है, इसमें हमारे ही जीवन का प्रतिबिम्ब है, इसमें हमारी ही कथा हमारी ही भाषा में कही है।''[1]

नॉवेल के लिए उपन्यास पद का प्रयोग हिन्दी को बांग्ला की देन है। ''बांग्ला के लिए भी उपन्यास पद का प्रथम प्रयोग भूदेव मुखोपाध्याय ने 1862 ईस्वी में अपनी 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक कथापुस्तक के शीर्षक में किया था जिसमें लगभग 60 पृष्ठों का 'अगुरीय विनिमय' नामक उपन्यास और लगभग 12 पृष्ठों का 'सफल

*डॉ. नीलू अग्रवाल : W/O डॉ. अखिलेश कुमार, शान्ति मेंसन, ऑक्सीजन हॉस्पीटल के बगल में विस्कोमान गोलम्बर, गुलजार बाग, पटना-7; मो. 9431081094

स्वप्न' नामक लघु कथा संकलित थी।''[2] 1865 ई. में बंकिमचन्द्र चटर्जी की पुस्तक 'दुर्गेशनन्दिनी' उपन्यास नाम से ही प्रकाशित हुई। वस्तुतः उपन्यास पद को नॉवेल के अर्थ में स्थापित करने का श्रेय बंकिमचन्द्र चटर्जी को ही है। हिन्दी में नॉवेल के अर्थ में उपन्यास पद का प्रथम प्रयोग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 1875 ई. में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के फरवरी और मार्च, 1875 के अंकों में धारावाहिक रूप में प्रकाशित अपूर्ण कथा 'मालती' के लिए किया था। इसका कारण संभवतः 'मालती' के कथा रूप का नवीन प्रयोग है।

उपन्यास के अन्य नामों में मुख्यतः गुजराती में 'नवलकथा' है या मराठी में 'कादम्बरी' है योरोप में उपन्यास के लिए 'रोमांस' शब्द चला जो स्वच्छन्दता सूचक शब्द है। कह सकते हैं कि नामान्तरण से कुछ न कुछ नई विशेषता तो जुड़ ही जाती है। 'नॉवेल', 'नवल', 'नवलकथा', 'कादम्बरी', 'रोमांस'– यह है तो उपन्यास के अनेक नाम या पर्याय पर इनमें कुछ अन्तर भी मौजूद हैं। 'उपन्यास' शब्द में कई तरह की व्यंजकता संभव हुई होगी जब नए शिल्प, नए रूप, प्रकार प्रचलन में आए होंगे। जब उपन्यास 'आत्मकथात्मक' या 'जीवनीपरक' होगा तो इसका अर्थ कुछ और होगा। फिर कभी यह डायरी के रूप में या पत्र के रूप में होगा तो भी उपन्यास की अर्थवत्ता कुछ विशेष हो उठेगी।

यूरोप में उपन्यास का लेखन 18वीं सदी में शुरू हो गया था लेकिन भारत में भारतीय भाषाओं में उपन्यास सीधे-सीधे आधुनिक काल की देन है। जिसकी शुरुआत 19वीं सदी से होती है। 1857 से पहले स्वतन्त्रता संग्राम का आरम्भ माना जाता है, यानी बंगाल के आधुनिक काल के काफी बाद। अंग्रेजों ने आने के साथ ही कई काम किए-समाज की आर्थिक संरचना कुछ बदली, जमींदार-महाजन, किसान-मजदूर, जैसी वर्गीय पहचान बनी। नए वर्ग सम्बन्ध बने। उपनिवेशवाद ने नया ढाँचा बनाया। प्रेस की स्थापना के साथ छपाई की कला विकसित हुई। अखबार निकलने लगे। पत्रिकाएँ भारतेन्दु युग में कई निकलीं। नई तरह की शिक्षा पद्धति का आरम्भ हुआ जिसे अंग्रेजी शिक्षा के नाम से जाना गया। मध्यवर्ग प्रमुख रूप से सामने आया। स्त्री शिक्षा के पक्ष में स्थितियाँ बनी और उसका विस्तार हुआ। स्त्रियों से सम्बन्धित पत्रिकाएँ भी निकली। प्रौद्योगिकी के विकास के कारण किताबें छपने लगीं। शिक्षा के लिए कथा का सहारा लिया गया और एक पढ़ा-लिखा वर्ग भी तैयार हुआ। भारत में उपन्यासों का आरम्भ तो शिक्षा-दीक्षा के लिए हुआ लेकिन इसने अपना जो रूप विकसित किया वह बिल्कुल अनोखा था। भारत गुलाम था और जब तक यह आजाद नहीं हुआ, तब तक हमारी अपनी कोई स्वतन्त्र पहचान नहीं थी इसलिए भारत के आरम्भिक उपन्यासकारों ने उपन्यासों के माध्यम से भारत की खोज करनी शुरू कर दी। यह केवल संयोग नहीं है कि भारत की पहली आजादी की लड़ाई 1857 में हुई थी और इसके बाद से भारत में उपन्यास तेजी से लिखे जाने लगे।

19वीं सदी में बालकृष्ण भट्ट के दो उपन्यास—'नूतन ब्रह्मचारी' (1887) और 'सौ अजान एक सुजान' (1893) लिखे गए। इनमें भी समाज सुधार की चर्चा है। राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू' जगमोहन सिंह का 'श्यामास्वप्न' भी इस काल में लिखें गए। देवकीनन्दन खत्री का उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' (1891) प्रकाशित हुआ जो उपन्यास में अद्‌भुत तत्व के महत्व को समझने में सहायक है। वस्तुतः हिन्दी के आरम्भिक सामाजिक-सांस्कृतिक उपन्यासों के साथ ही ऐतिहासिक उपन्यासों में भी नवजागरण की अपेक्षा पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति अधिक बलवती रही, परन्तु अँधेरे को चीरकर एक अग्रगामी सामाजिक-राजनीतिक उपन्यासकार के रूप में प्रेमचन्द का उदय उपन्यास के विकास में विशिष्ट घटना बन गई। राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेमचन्द ने जिस प्रकार देश की बहुसंख्यक किसान-मजदूर जनता के साथ जोड़ कर देखा-दिखाया है, वह उनके समय और बाद के उपन्यासकारों के लिए भी अधिकांशतः अनुकरणीय रहा है।

''इसी काल (1918-1947) की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उपन्यास लेखन के क्षेत्र में महिलाओं की बढ़ती हुई हिस्सेदारी भी है। हिन्दी की प्रथम मौलिक उपन्यास लेखिका कोई साध्वीसती प्राण अबला थीं जिन्होंने अपना वास्तविक नाम गुप्त रखकर 1890 में 'सुहासिनी' नामक उपन्यास लिखा और प्रकाशित कराया था। यदि वे ब्रजरत्न दास के अनुसार मल्लिका देवी ही हैं, तो उन्हीं को हिन्दी की पहली मौलिक उपन्यास लेखिका भी मानना होगा। इसके तीन वर्ष बाद श्रीमती हरदेवी ने, 1893 में अपना 'हुकुमदेवी' नामक उपन्यास प्रकाशित करवाया। प्रेमचन्दपूर्व की अन्य महिला उपन्यासकारों में प्रियवन्दा देवी (लक्ष्मी : 1908), कुन्तीदेवी (पार्वती : 1909) यशोदा देवी (सच्चा पतिप्रेम : 1911) हेमन्त कुमारी चौधरी (आदर्श माता : 1912), ब्रह्माकुमारी भगवान देवी दुबे (सौन्दर्य कुमारी : 1914), श्रीमती कुमुदबाला देवी (सदाचारिणी : 1917) आदि हैं। इन उपन्यासों में परम्परागत मूल्यों पर आधारित नारी आदर्शों का प्रतिपादन किया गया है। पातिव्रत्य का पालन, गृह कार्य में निष्ठा और कुशलता, सौतियाहाड जैसे उपदेश उस काल के पुरुष लेखक और स्त्रियों को दे रहे थे। स्त्री लेखिकाओं ने इस सम्बन्ध में अपना कोई भिन्न स्वर मुखरित नहीं किया।''[3] यह कथा लेखन में लेखिकाओं के प्रवेश की शुरुआत थी। उनके उपन्यासों का सर्वाधिक प्रमुख विषय हिन्दू समाज में विधवाओं की दयनीय स्थिति, पत्नी-पति संघर्ष, पातिव्रत्य और सतीत्व का महत्व, किसी विधवा द्वारा किसी विवाहित व्यक्ति से प्रेम करके संकट पूर्ण स्थितियों में पड़ने, यहाँ तक कि वेश्यावृत्ति अपनाने को बाध्य होने, पढ़ी-लिखी होने पर भी भारतीय आदर्श का पालन करने वाली स्त्री की महत्ता का प्रतिपादन, धन लोलुप परिवार में निर्धन परिवार की लड़की के विवाह हो जाने पर उसकी अपमानजनक स्थिति आदि है। ये उपन्यास लेखिकाएँ हिन्दू समाज में स्त्री की विषम और दयनीय स्थिति का प्रमाणिक चित्रण करने में सफल हैं, पर उनका

दृष्टिकोण रूढ़ ही है। वे परम्परागत नारी संहिता के विरोध में जाने का साहस नहीं कर सकी हैं जबकि वे स्त्री शिक्षा का खुलकर समर्थन करती हैं। अतः इन लेखिकाओं का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण पुरुष लेखकों से भिन्न नहीं मालूम पड़ता।

हिन्दी की इन स्त्री-लेखिकाओं द्वारा लिखें उपन्यास नारी के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। अभी तक अधिकाँशतः उपन्यास लेखन की ओर पुरुष लेखक ही आकर्षित हुए थे। स्त्री लेखिकाओं का प्रयास इस दिशा में बाल-प्रयास मात्र कहा जा सकता है। नारी पात्र पूर्णरूपेण अपरिपक्व और अविकसित प्रतीत होते हैं। इनमें न तो अविस्मरणीय चारित्रिक विशेषताएँ हैं जो पाठक को आकर्षित कर सके और न ऐसी पीड़ा-वेदना का करुणा, इन चरित्रों में है जो पाठकों को आँसू बहाने पर विवश कर सके। पढ़कर पाठकों को थोड़ी सहानुभूति अवश्य होती है।

वस्तुतः उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति स्त्रियों में बड़ी देर से जागृत हुई। हिन्दी में जब अनेक बड़े-बड़े उपन्यासकार नारी जीवन को लेकर अनेकानेक उपन्यास लिख रहे थे, उस समय स्त्रियाँ केवल प्रारम्भिक रूप से ही अपनी कला को प्रदर्शित करने का प्रयास कर रहीं थीं। इसी समय कुटुम्बप्यारी देवी का 'हृदय का ताप' ज्योतिर्मयी ठाकुर का 'मधुबन' तेजरानी दीक्षित का 'हृदय का काँटा' और श्रीमती पूर्णशशि देवी का 'रात का बादल' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए जो चरित्र-चित्रण, भाव, भाषा आदि सभी दृष्टियों से यह अपने पहले के उपन्यासों से महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ हम पाते हैं कि उपन्यास साहित्य में पुरुष लेखकों के पीछे-पीछे ही सही पर जब नारी शिक्षा का विस्तार हुआ तो धीरे-धीरे उनका लेखन भी दुनिया की नजरों में आना शुरू हुआ और इस क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी मजबूत होती गई।

स्वतन्त्रता कालीन युग तक आते-आते भारतीय महिलाएँ काफी सजग होने लगीं। फिर चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो या राजनीतिक। हर जगह उनकी उपस्थिति नजर आने लगती है। स्वतन्त्रता की लड़ाई में तो वे भाग लेती ही हैं, साहित्य क्षेत्र में भी खुद को स्थापित करती हैं। इस युग की लेखिका में कंचनलता सब्बरवाल श्रीमती शीलो, सुश्री वासन्ती देवी सेन, उषादेवी मित्रा, प्रभावती भटनागर सुश्री अरुणा, श्रीमती आशा सहाय, अमृता प्रीतम, आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। इन लेखिकाओं ने अपनी कृतियों में कोई कमी नहीं रहने दी। राष्ट्रीय भावना और स्त्री मुक्ति, दोनों का स्वर संयुक्त रूप से नजर आया। या यूँ कहें कि देश के साथ-साथ स्त्री पराधीनता की बेड़ियाँ भी इन उपन्यासों में टूट रही थी। कंचनलता सब्बरवाल का उपन्यास 'स्वतन्त्रता की ओर' में भारतीय नारी के गौरव का आख्यान प्रस्तुत हुआ है, जिसमें देशभक्ति के चित्रण द्वारा पाठकों में राष्ट्रीय भावना का संचार किया गया है। 'मूक तपस्वी' इनका चरित्रप्रधान उपन्यास है जिसमें रोमांटिक प्रेम की उदात्त व्यंजना है। कंचनलता जी के प्रायः सभी उपन्यास सोद्देश्य हैं और उनमें जनसेवा के आदर्श की स्थापना की गई है। इनमें भावुकता भी विशेष रूप से प्रकट हुई है, जो तत्कालीन

उपन्यासों की विशेषता थी। समाज के शोषित और उपेक्षित वर्ग के प्रति उपन्यास लेखिका की सहानुभूति 'मूक प्रश्न' के अलावा 'भोली भूल' और 'संकल्प' में भी व्यक्त हुई है पर मार्क्सवाद और गाँधीवाद के तरीकों के प्रति लेखिका का चिन्तन द्वन्द्व ग्रस्त है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति लेखिका की अगाध आस्था व्यंजित हुई है।''[4]

श्रीमती शीलो ने 1942 में 'ग्रेजुएट लड़की' लिखा। इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने यह सन्देश दिया है कि वे अंग्रेजी शिक्षा अवश्य प्राप्त करें किन्तु भारतीय आदर्शों का विस्मरण ना करें। सुश्री वासन्ती देवी सेन के उपन्यास 'दिलाश' में आदर्शोन्मुख यथार्थवादी घटनाओं के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया गया है। लेखिका ने संवादों द्वारा पात्रों की मनोदशा को तो स्पष्ट किया ही है, कहीं-कहीं उनके माध्यम से कथानक, देश काल तथा उद्देश्य की भी सफल अभिव्यक्ति की है। उषा देवी मित्रा एक महत्त्वपूर्ण महिला उपन्यासकार के रूप में उभरी। अहिन्दीभाषी होते हुए भी उन्होंने काफी हिन्दी उपन्यास लिखें। 1936 में इनका 'वचन का मोल' प्रकाशित हुआ। इसके बाद 1947 से पूर्व अन्य उपन्यासों में 'पिया' (1937), जीवन की मुस्कान (1939) और पथचारी (1940) शामिल हैं। 'वचन का मोल' में नारी जीवन की प्रेम एवं विवाह विषयक समस्या को उठाया गया है। उपन्यास में आदर्शवाद की अधिकता कहीं-कहीं कथानक की स्वभाविकता को घटाती है, फिर भी भारतीय संस्कृति का आदर्श, वचन की दृढ़ता एवं देशभक्ति की भावना कथानक के मुख्य बिन्दु हैं। 'पिया' में जहाँ भारतीय जीवन के अभिशाप विधवा-जीवन को आधार बनाया गया है, वहीं स्वाधीनता संग्राम, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार आदि का वर्णन भी मिलता है। उषा जी के उपन्यासों में नारी के अन्तरतम की कोमलता और प्रेम की टीस का यथार्थवादी चित्रण मिलता है।

प्रभावती भटनागर के 'पराजय' (1946) शीर्षक उपन्यास में मुख्य रूप से सरला नामक युवती का चरित्र-चित्रण हुआ है। निष्काम सेवा, कर्तव्य परायणता, आत्मसम्मान तथा सहनशीलता उसके चरित्र की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। सुश्री अरुणा का 'रजनी' (1947) उपन्यास एक सामाजिक उपन्यास है। यह उपन्यास विवाह के कारण उत्पन्न असफल दांपत्य जीवन का चित्रण उपस्थित करता है। कथानक में जहाँ शैथिल्य हैं वहीं सामान्य घटनाओं को भी काफी विस्तार दिया गया है। श्रीमती आशा सहाय का उपन्यास 'एकाकिनी' (1947) यह बतलाता है कि नारी जीवन की करुणा का उद्‌गम है, अनुराग और वात्सल्य ही नारी-जीवन के मूलधन हैं। इनके यहाँ नारी की स्थिति और नारी हृदय की मनोवैज्ञानिकता का अच्छा चित्रण मिलता है। अतुल, विराग, कला, बिजली आदि पात्रों को देश सेवा में संलग्न दिखाकर लेखिका ने सामाजिक कथानक में राष्ट्रीय चेतना का भी सुन्दर समाहार किया है।

इसी समय में नारी-हृदय की तड़प को कलम की नोक पर उतारने वाली प्रभावशाली लेखिका अमृता प्रीतम भी उपन्यास जगत में आती हैं। यूँ तो उन्होंने

उपन्यास लिखें हैं पर स्वतन्त्रताकालीन युग के तीन मुख्य हैं—''डॉक्टर देव', 'पिन्जर' और अंशु। 'डॉक्टर देव' में नारी और पुरुष के एकनिष्ठ प्यार की कहानी है। लेखिका ने समाज का ज्वलन्त प्रश्न प्रेम और विवाह उठाया है। अपने 'अंशु' उपन्यास में उन्होंने अपनी अनोखी निराडम्नबर, मार्मिक शैली में एक कलाकार लड़की के जीवन की आन्तरिक उलझनों का चित्रण करते हुए नवीन भारत की नारी का मुक्ति मार्ग प्रशस्त किया है। 'पिन्जर' अमृता प्रीतम के प्रमुख उपन्यासों में है, जिसमें विभाजन की त्रासदी का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है।

युग जीवन दर्शन के परिवर्तन के साथ-साथ महिला उपन्यासकारों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुआ। उन्होंने इसे अभिव्यक्त करने के लिए नए-नए प्रयोग किए। इस काल में सर्वत्र विद्रोह के स्वर मिलते हैं। आदर्श के स्थान पर यथार्थ हृदय के स्थान पर बुद्धि धर्म के स्थान पर काम और समाज के स्थान पर व्यक्ति की स्थापना हुई। लेखिकाओं के स्वर भी मुखर हुए पर अब भी कुछ संकोच बाकी दिखता है। इनके उपन्यास भारत के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक गौरव को यथार्थ रूप में प्रकट करते हैं तथा वर्तमान के प्रति भी सजग करते हैं। इस युग की राजनीति में जो हलचल थी, जो क्रान्ति की बयार थी और समाज में जो भी विसंगतियाँ थीं सबको यहाँ जुबान मिलती है। पाश्चात्य सभ्यता के फलस्वरूप भारत में भी वैवाहिक सम्बन्धों में जो विकृतियाँ पनपने लगी थी, उसका वर्णन भी इन उपन्यासों में मिलता है।

स्त्री उपन्यास लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों द्वारा जिन नारी चरित्रों की अवतारणा की, उनका अपना ही महत्व है। वे जीवन के प्रति ईमानदार हैं और साथ ही उनमें मानवीय गुणों की जो प्रतिष्ठा हुई है, वह सर्वथा अविस्मरणीय है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :–

1. हिन्दी साहित्य कोश, प्रधान सम्पादक-डॉ. धीरेन्द्र शर्मा, पृष्ठ-121 (भाग 1)
2. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृष्ठ-36
3. वही, पृष्ठ-163
4. वही, पृष्ठ-192

बौद्ध-धर्म के बन्धन एवं मोक्ष का दार्शनिक सौन्दर्य

डॉ. रूपेश कुमार सिंह

बौद्ध-धर्म मानव जाति की प्राचीनतम धार्मिक परम्पराओं में एक है। आज भी विश्व के कई भागों में लोगों की इस धर्म के प्रति आस्था है। बौद्ध-धर्म भारत में उत्पन्न हुआ। इसके संस्थापक गौतम बुद्ध थे। उन्होंने कोसी, कुरूक्षेत्र और हिमाचल-विंध्याचल के भीतर ही विचरते हुए 45 वर्ष तक प्रचार किया। इस धर्म के अनुयायी चिरकाल तक महान सम्राटों से साधारण जन तक, सारे भारत में फैले हुए थे। इसके विचारक और दार्शनिक हजारों वर्षो तक अपने विचारों से भारत के विचारों को प्रभावित करते रहे।[1]

जब भारत में बुद्ध के उपदेशों का जोरों से प्रचार होने लगा और बड़े-बड़े राजा भी उनके सामने नत-मस्तक होने लगे, तब बहुत से लोगों ने यह प्रश्न पूछना शुरू किया : आप कौन हैं? और जब स्वयं बुद्ध के पास लोग अपना प्रश्न लेकर गए, तब जो उत्तर, उन्होंने दिया, वह उनके सम्पूर्ण उपदेशों का सार है। उन्होंने पूछा क्या आप ईश्वर हैं? नहीं। देवदूत हैं? नहीं। साधु हैं? नहीं। तब आप क्या है? गौतम बुद्ध ने उत्तर दिया मैं बुद्ध हूँ। यही उत्तर उनका नाम बन गया। बुद्ध का अर्थ ही होता है ज्ञान-सम्पन्न जबकि सारी दुनिया गहरी निद्रा में सोई थी। एक स्वप्न देख रही थी, जिसे मरणशील मनुष्य का जागरित जीवन कहा जाता है। एक मनुष्य जागा। बौद्ध-धर्म एक ऐसे व्यक्ति से आरम्भ होता है, जो जड़-अवस्था से चेतना-अवस्था में आया।

महात्मा बुद्ध के जीवन के सम्बन्ध में कई सुन्दर अनुश्रुतियाँ हैं। कहा जाता हैं कि जब उनका जन्म हुआ, तब सारे विश्व में प्रकाश फैल गया था। नेत्रहीनों को नेत्र मिल गए, बहरे और गूँगे आत्म विभोर होकर आनेवाले समय के सम्बन्ध में बातचीत करने लगे, लँगड़े चलने लगे। कैदी अपनी बेड़ियों से मुक्त हो गए और नरक अग्नि

डॉ. रूपेश कुमार सिंह : शोधप्रज्ञ (दर्शनाशास्त्र), ग्राम व पोस्ट–धोबौली, जिला–वैशाली, बिहार, पिन कोड-844502, चलभाष : 9334708197

बुझ गई। यहाँ तक कि जंगली जानवरों के अत्याचार भी समाप्त हो गए। पृथ्वी की चारों ओर शान्ति व्याप्त थी।

सिद्धार्थ गौतम का जन्म 560 (छठी शताब्दी) ई.पू. में हुआ था। वे शाक्य वंश के राजा शुद्धोदन और रानी महामाया के इकलौते पुत्र थे। इनका जन्म कौशल-राज्य की राजधानी कपिलवस्तु में हुआ था, जिसका विस्तार दक्षिणी नेपाल से गंगा नदी तक था। उस समय गंगा की घाटी में अधिकांश राज्य वस्तुतः गणराज्य थे और उनका सर्वोच्च शासक 'राजा' कहलाता था। उनका लालन-पालन राज दरबार के ऐश्वर्यों में हुआ था। कहा जाता है कि वे देखने में बहुत ही सुन्दर थे। सोलह वर्ष की आयु में उनका, पड़ोस की राजकुमारी यशोधरा से विवाह हुआ। उनके केवल एक पुत्र था, राहुल। राजधानी में विशेष रूप से यह आदेश दिया गया था कि सिद्धार्थ को न बीमार, न बूढ़ा और न ही कोई शव दिखाई देना चाहिए। उन्हें बुढ़ापा, बीमार और मृत्यु जैसी दशाओं से सर्वथा अनभिज्ञ रखा गया था। उनके पिता चाहते थे कि उनका पुत्र सांसारिक सुखों का भोग करे और उनके राज्य का उत्तराधिकारी बने। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। सिद्धार्थ की दृष्टि बुढ़े, रोगी, शव तथा भिक्षु पर पड़ ही गई। उन्होंने अपने सारथी छन्दक से इनके बारे में पूछा। उसने उन्हें बताया। बुढ़ापा और बीमारी हरेक को आती है, हरेक की मृत्यु भी होती है। केवल भिक्षु इनसे परे हैं। सिद्धार्थ पर इस बात का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने जीवन की नश्वरता समझ ली और मुक्ति की खोज के लिए तत्पर हो गए। जब सिद्धार्थ का जन्म हुआ था। तब उनके पिता ने भविष्य वक्ताओं को बुलाकर अपने भावी उत्तराधिकारी के बारे में पूछा। सभी इस बात से सहमत थे कि यह कोई असाधारण बच्चा है। उनका कहना था कि अगर वे संसार में रहे तो चक्रवर्ती राजा होंगे, अगर संसार को छोड़ दिया, तो विश्व में मुक्तिदाता होंगे।[2]

एक शाम उत्तर-पूरब भारत में गया के निकट वे एक पीपल वृक्ष के नीचे बैठ गए, जिसे बोधि-वृक्ष कहा गया। महात्मा बुद्ध तब तक वहाँ से नहीं उठे, जब तक उन्हें ज्ञान की प्राप्ति न हो गई। गौतम बुद्ध ने लगभग आधी शताब्दी तक भारत के धूल-भरे मार्ग पर पैदल चलकर सब लोगों को मानव के चरम लक्ष्य मोक्ष और उसे प्राप्त करने के उपायों के विषय में उपदेश दिए। उन्होंने एक धर्मसंघ की स्थापना की ओर ब्राह्मण समाज की निष्क्रियता को चुनौती दी, जिनके लिए उन्हें काफी कठिनाइयाँ उठानी पड़ी। वे जनसाधारण को उपदेश देते थे। वे निजी तौर पर भी दुःखी प्राणियों को परामर्श देते थे। उनके पास लोग दूर-दूर से आते थे, जिन्हें वे सान्त्वना देते थे।

बुद्ध अस्सी वर्ष की अवस्था में रूग्ण हुए। लगभग 480 ई. पू. में उनकी मृत्यु हुई। बुद्ध की मृत्यु चुन्दकर्मार—पुत्र के यहाँ भोजन करने से हुई। मृत्यु शय्या पर भी उनका मन दूसरों की ओर लगा था। मृत्यु के समय उन्हें काफी पीड़ा थी, फिर भी

उन्होंने आनन्द से कहा कि लोग चुन्दमार—पुत्र को उनकी मृत्यु का दोषी ठहरा सकते है, इसलिए अपने भिक्षुओं से चुन्द को यह कहलवाया कि उनके जीवन में दो भोजन उसके लिए वरदान सिद्ध हए। एक भोजन से उन्हें बुद्धत्व की प्राप्ति हुई और दूसरे से निर्वाण का दरवाजा खुल गया।[4]

गौतम बुद्ध के जीवन को पढ़ने के बाद कोई भी यह राय बनाए बिना नहीं रह सकता कि वे विश्व की महान विभूतियों में एक थे। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि उनमें शान्त मस्तिष्क और सम्वेदनशील हृदय का मणि-कांचन संयोग था, जिसके कारण न तो भावुकता में बहे, न उदासीन हुए। वे निस्सन्देह बुद्धिवादी थे और इस मामले में उनकी तुलना सुकरात से की जा सकती है। वे हर एक समस्या पर शान्त मस्तिष्क से विचार करते और उसका विश्लेषण करते एवं उसके समाधान का प्रयास करते थे।

गौतम बुद्ध अत्यधिक सरल व्यक्ति थे। जब उनकी ख्याति चरम बिन्दु पर पहुँच गई, उस समय भी उनके हाथ में भिक्षा-पात्र होता था और वे सड़कों पर घुमा करते थे। उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी थी, फिर भी वे हमेशा प्रसन्न रहते थे। उनमें आत्मविश्वास था। वे ज्ञान के ऐसे धरातल पर पहुँच चुके थे, जहाँ उन्हें स्वयं श्रेष्ठता की अनुभूति थी। फिर भी उनमें अहंकार लेशमात्र नहीं था। उन्होंने अपने को कभी ईश्वर नहीं माना, हालाँकि उन्हें ऐसा मानने के लिए बाध्य किया गया। वे अपने को हर प्रकार से एक साधारण मानव मानते थे। वे अपनी कमजोरियों को समझते थे। वे जानते थे कि किस कठिनाई से उन्हें बुद्धित्व की प्राप्ति हुई। उनके सामने कितने प्रलोभन आए, लेकिन वे अडिग रहें।[5]

धर्म-चक्र-प्रवर्तन—बुद्धत्व लाभ करने के बाद भगवान बुद्ध धर्मोपदेश करना नहीं चाहते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में इस अनुपम रत्न को ग्रहण करने वाला अधिकारी नहीं था। अतः वे शान्त हो केवल निर्वाण-सुख का अनुभव करते थे। पहले वे आलार कलाम और रामपुत्र को उपदेश करना चाहते थे, परन्तु उस समय वे मर चुके थे। वे उन पाँच भिक्षुओं (पंचवर्गीय भिक्खु) की खोज में वाराणसी आये जो उनके साथ तपस्या किये थे। इन पाँच भिक्षुओं से महात्मा बुद्ध की भेंट ऋषिपतन-मृगदाव (सारनाथ) में हुई। इन पंचवर्गीय भिक्षुकों को भगवान ने पहला उपदेश दिया। यही प्रथम उपदेश धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र के नाम से विख्यात है। यह उपदेश आषाढ़ पूर्णिमा के दिन दिया गया। इस प्रथम उपदेश में भगवान ने मध्यम मार्ग को ही यथार्थ मार्ग बतलाया है। यह मध्यम मार्ग दो अन्तों का परित्याग है। इनमें प्रथम अन्त इन्द्रिय या काम सुख में लीन होना है। यह संसार में पूर्ण आसक्ति है। इसे भगवान ने हीन, ग्राम्य और अनार्य, अनर्थकारी बतलाया है। दूसरा अन्त अपने को कष्ट देना है। दूसरा अन्त विरक्त होकर अतीन्द्रिय सुख की कामना करना है। यह संसार का सर्वथा त्याग है।

परन्तु यह निर्वाण के लिए उपयोगी नहीं। इन दोनों अन्तों के बीच का मार्ग मध्यम-मार्ग का ही उपदेश भगवान ने किया। भगवान बुद्ध की देशना से पंचवर्गीय भिक्षुओं ने अर्हत्व लाभ किया। इसके पश्चात् साठ अर्हत बने। इस प्रकार भगवान के सद्धर्म का प्रचार होने लगा। कौशल, मगध और पड़ोसी गणराज्यों के राजाओं ने भी दीक्षा ली। शिष्य-मंडली बढ़ने लगी। बौद्ध-भिक्षुओं के लिए बिहारों का निर्माण होने लगा। भगवान बुद्ध की वाणी मीठी थी, भाषा सरल थी, उपदेश सीधे थे, भाव में कोई दुराव न था। अतः लोग मुग्ध हो इनके उपदेशामृत का पान करते थे। सारे भारत में थोड़े ही दिनों में 'बुद्धं शरण' गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि' का नारा गुँजने लगा। ऊँच-नीच सभी व्यक्तियों ने बुद्ध की शरण ली, सभी वर्ग के व्यक्तियों ने संघ में शरण ली तथा स्त्री-पुरुष आदि सभी लोगों ने भेद-भाव रहित हो धर्म की शरण ली। भगवान बुद्ध का अनवरत धर्म प्रचार-प्रसार चालीस वर्षों तक चलता रहा। अन्त में कुशीनगर (कसया) में भगवान का परिनिर्वाण (शरीर त्याग) वैशाखी पूर्णिमा को 80 वर्ष की अवस्था में ई. 543 में हुआ। अनन्त विश्राम करते हुए भगवान बुद्ध का अन्तिम उपदेश है—भिक्षुओ! मैं तुम्हें कहता हूँ। सभी संस्कार नाशवान हैं, प्रमादरहित हो अपने जीवन के लक्ष्य को पूरा करो।6

प्रत्येक दार्शनिक, कवि की तरह, अपने समय की प्रवृत्तियों से प्रभावित होता है। जिस समय बुद्ध का जन्म हुआ था उस समय मानव तत्त्वशास्त्र की समस्याओं को सुलझाने में निमग्न था। प्रत्येक व्यक्ति आत्मा, जगत् और ईश्वर जैसे विषयों के चिन्तन में डूबा हुआ था। जितने विचारक थे, उतने मत हो गये थे। इस दार्शनिक प्रवृत्ति का फल यह हुआ कि लोगों का नैतिक जीवन निष्प्राण हो रहा था। लोग जीवन के कर्त्तव्य को भूल रहे थे। वे संसार में रहकर भी संसार से कोसों दूर थे। नीतिशास्त्र के नियमों के प्रति लोगों की आस्था उठने लगी थी। जिस प्रकार विचार क्षेत्र में पूरी अराजकता थी, उसी प्रकार नैतिक-क्षेत्र में भी अराजकता थी। उस समय एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो लोगों को नैतिक जीवन की समस्याओं के प्रति जागरूक बनाने में सहायक हो। बुद्ध इस माँग की पूर्ति करने में पूर्ण रूप से सफल हुए।[7]

बुद्ध एक समाज-सुधारक थे, दार्शनिक नहीं। दार्शनिक उसे कहा जाता है जो ईश्वर, आत्मा, जगत् जैसे विषयों की चिन्ता करता हो। जब हम बुद्ध की शिक्षाओं का सिंहावलोकन करते हैं तो उसमें आचार-शास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र आदि पाते हैं, परन्तु तत्त्व-दर्शन का वहाँ पूर्णतः अभाव दीख पड़ता है। उनसे जब भी कभी दर्शन-शास्त्र से सम्बन्धित कोई प्रश्न पूछा जाता था तो वे मौन रहा करते थे। आत्मा और जगत् से सम्बन्धित अनेक लोकप्रिय प्रश्नों के प्रति वे मौन रहकर उदासीनता का परिचय देते थे। ऐसे प्रश्न, जिनके सम्बन्ध में वे मौन रहा करते थे, ये हैं—

(i) क्या यह विश्व शाश्वत है? (ii) या यह विश्व अशाश्वत है? (iii) या यह विश्व ससीम है? (iv) क्या यह विश्व असीम है? (v) क्या आत्मा और शरीर एक है? (vi) क्या आत्मा शरीर से भिन्न है? (vii) क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता है? (viii) क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म नहीं होता? (ix) क्या उनका पुनर्जन्म होना और न होना—दोनों ही बातें सत्य हैं? (x) क्या उनका पुनर्जन्म होना और न होना—दोनों ही बातें असत्य है?

ऊपर वर्णित दस प्रश्नों को पाली साहित्य में, जिसमें बौद्ध-धर्म के उपदेश संग्रहीत हैं, अव्याकतानि कहा जाता है। इन दस प्रश्नों में प्रथम चार प्रश्न विश्व से सम्बन्धित हैं, बाद के दो प्रश्न आत्म से सम्बनधित हैं और अन्तिम चार प्रश्न 'तथागत' से सम्बन्धित हैं। बौद्ध-दर्शन में 'तथागत' उस व्यक्ति को कहा जाता है, जिसने निर्वाण को अंगीकार किया है। इन प्रश्नों के पूछे जाने पर बुद्ध का मौन रहना विचार का विषय रहा है। उनके 'मौन' के भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये गये हैं।[8]

कुछ लोगों का मत है कि बुद्ध आत्मा, विश्व, ईश्वर इत्यादि के अस्तित्व में संशय करते थे। उन लोगों के अनुसार उनका मौन रहना उनके संशयवाद की स्वीकृति है। परन्तु तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों पर बुद्ध के मौन रहने का यह अर्थ लगाना भी समीची नहीं है। बुद्ध सुंशयवाद के पोषक नहीं थे।[9] अनेक विद्वानों ने बुद्ध के 'मौन' का यह अर्थ लगाया है कि उनका 'मौन' रहना किसी निश्चित उद्देश्य को अभिव्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वे जान-बूझकर तत्त्वशास्त्रीय प्रश्न पूछे जाने पर मौन हो जाते थे। वे सर्वज्ञानी थे। उन्हें मानव के ज्ञान की सीमाएँ विदित थीं। उन्होंने देखा कि तत्त्वशास्त्र के जितने प्रश्न हैं उनके उत्तर निश्चित रूप से नहीं दिये गये हैं। किसी भी प्रश्न के उत्तर में दार्शनिकों का एक मत नहीं रहा है। अतः तत्त्वशास्त्र के प्रश्नों में उलझना व्यर्थ के विवाद को प्रश्रय देना है। अन्धे स्पर्श के द्वारा जब हाथी के स्वरूप का वर्णन करते हैं तब उनका वर्णन विरोधात्मक एवं भिन्न-भिन्न होता है। जिस प्रकार अन्धे हाथी का पूर्ण ज्ञान पाने में असमर्थ हैं उसी प्रकार मानव, आत्मा, ईश्वर और जगत् जैसे विषयों का पूर्ण ज्ञान पाने में असमर्थ हैं। अतः तत्त्वशास्त्र के प्रश्नों में दिलचस्पी लेना बुद्ध के अनुसार बुद्धिमता नहीं है। इसके अतिरिक्त बुद्ध तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों के प्रति इसलिए भी मौन रहते थे कि वे जानते थे कि इन प्रश्नों का उत्तर व्यावहारिक दृष्टिकोण से निरर्थक है। बुद्ध के अनुसार संसार दुःखों से परिपूर्ण है। उन्होंने दुःख के सम्बन्ध में जितने प्रश्न हैं उनका उत्तर जानने के लिए मानव को प्रेरित किया। उन्होंने दर्शन का उद्देश्य 'दुःख का अन्त' कहा है? इसलिए उन्होंने दुःख की समस्या और दुःख-निरोध पर ही अधिक जोर दिया। उन्होंने स्वयं कहा है "मैं दुःख और दुःख-निरोध पर ही अधिक जोर देता हूँ।"10 सचमुच दुःख से पीड़ित मानव को पाकर दर्शन-शास्त्र के प्रश्नों में उलझने वाला व्यक्ति मुर्ख नहीं तो और क्या है? बुद्ध ने इस तथ्य को एक उपमा द्वारा सुन्दर ढंग से समझाया है।

यदि कोई व्यक्ति बाण से आहत होकर किसी के पास पहुँचता है तब उसका प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिये बाण को हृदय से निकाकर उसकी सेवा-शूश्रूषा करना। ऐसा न करने के बजाय इन प्रश्नों पर कि तीर कैसा है? किसने मारा? कितनी दूर से मारा? क्यों मारा? और तीर मारने वाले का रंग-रूप क्या था?—विचार करना मूर्खता ही कहा जायेगा। उसी प्रकार दुःख से पीड़ित मानव के लिए आत्मा, जगत् ईश्वर जैसे प्रश्नों के अनुसन्धान में निमग्न रहना निरर्थक ही कहा जा सकता है। अतः तत्त्वशास्त्र के प्रश्नों के प्रति बुद्ध का 'मौन' रहना प्रयोजनात्मक है। हमारी समझ से उनके मौन रहने का यही उचित अर्थ है।

चार आर्य सत्य

भगवान बुद्ध के उपदेशों का सार उनके चार आर्य सत्यों में संग्रहित है। अतः चार आर्य सत्य ही बौद्ध धर्म और दर्शन के सार हैं। गौतम ने इन्हीं आर्य सत्यों को प्राप्त कर बुद्धत्व लाभ किया। इनकी खोज में ही विरक्त हो उन्होंने पत्नी-पुत्र का परित्याग किया था। अतः ये आर्य सत्य ही उनके शान्ति सन्देश हैं। इन आर्य सत्यों का महत्त्व बतलाते हुए भगवान बुद्ध स्वयं कहते हैं—भिक्षुओं, इन आर्य सत्यों को भलीभाँति न जानने के कारण ही मेरा और तुम्हारा संसार में जन्म मरण, दौड़ना, दीर्घ काल से होता रहा है! इस आवागमन के चक्र में हम सभी दुख भोगते रहे। विभिन्न योनियों में भटकते रहे। अब इनका ज्ञान हो गया। दुःख का समुल विनाश हो गया, अब आवागमन नहीं होना है। (महापरिनिष्वानसुत्त) इससे स्पष्ट है कि सभी दुःखों का कारण और निवारण आर्य सत्यों में ही निहित है। ये आर्य सत्य चार हैं—दुःख, दुःख समुदय (दुःख का कारण) दुःख निरोध या निर्वाण और दुःख निरोध मार्ग या निर्वाण-मार्ग या अष्टांग मार्ग। इन आर्य सत्यों की संख्या चार है। अतः इन्हें सत्य चतुष्टयी कहते हैं। रोग, हेतु, आरोग्य और भैषज्य, इसी प्रकार संसार भी चतुर्व्यूह है, संसार संसारहेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय। सांख्य प्रवचन भाष्य में चिकित्सा शास्त्र और मोक्ष शास्त्र में समानता बतलाई गई।[11]

प्रथम आर्य सत्य : दुःख सत्य

दुःख की सत्ता सर्वविदित है। इसे कोई व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। दुःख से उद्विग्न होकर ही बुद्ध ने संसार त्याग किया था। संसार दुखरूप है, इस सत्य का उपदेश वे अपने पालि 'धर्मचक्र प्रवर्त्तन सूत्र' में ही करते हैं : जन्म लेना, जरा (बुढ़ापा), मरण, शोक, विलाप (रोना-पीटना) दुख है, पीड़ा दुख है, चिन्तित होना दुःख है, व्यग्र (बेचैन) होना दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है, प्रिय दुःख है, चिन्तित होना दुःख है, अप्रिय से संयोग दुःख है। संक्षेप में पंच उपादान या शरीर ही दुख है (विनय महावग्ग) प्रथम दुख सत्य की व्याख्या करते हुए तथागत का कहना है—भिक्षुओं

चिरकाल तक माता के मरने का दुख सहा है, पिता के मरने का दुख सहा है, पुत्र के मरने का दुख सहा है, रोगी होने का दुख सहा है। इस प्रकार दुखों को सहने वालों ने संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग का दुःख सहा है, रोये-पिटे हैं, आँसू बहाये हैं, आदि। इस प्रकार का वर्णन त्रिपिटक में अनेकों बार आया है। इससे स्पष्ट होता है कि दुख सत्य बुद्ध की पहली शिक्षा है। उनके आदेश का प्रथम सोपान है।[12]

द्वितीय आर्य सत्य : दुःख समुदय अर्थात दुःख की उत्पत्ति

दुःख की यदि सत्ता है तो इसकी उत्पत्ति अवश्य होती है, अर्थात् जो सत है वह अवश्य उत्पन्न है और उत्पत्ति अकारण नहीं, सकारण होती है। किसी वस्तु या विषय के अस्तित्व को यदि हम कार्य मान लेते हैं तो इसे कारण से उत्पन्न स्वीकार करना ही होगा; क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह कार्य है और कार्य अकारण नहीं उत्पन्न हो सकता। इस प्रकार दुख सत्य को हम कार्य मान लेते हैं तो इसके कारण पर भी विचार करना होगा, क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह कार्य है और कार्य अकारण नहीं उत्पन्न हो सकता। इस प्रकार दुःख सत्य को हम कार्य मान लेते हैं तो इसके कारण पर भी विचार करना होगा, क्योंकि दुख अकारण नहीं हो सकता। इस प्रकार कारणतावाद या कारण से कार्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त ही दुख समुदाय या दुख की उत्पत्ति की व्याख्या का आधार है। बौद्ध दर्शन में इस कारणता को ही प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त दुख समुदय या दुख उत्पत्ति की व्याख्या का आधार है। बौद्ध दर्शन में इस कारणता को ही प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त कहते हैं। यह कार्य-कारण नियम है। इनका स्वरूप इस प्रकार है, इमस्मि सति इदं होति, इमस्स उप्पाया इदं उपज्जति। इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरूज्झति अर्थात् इसके होने पर ऐसा होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है, इसके न होने से यह नहीं होता, इसके निरोध से यह निरूद्ध हो जाता है। यह कार्य कारण नियम ही इदम्प्रत्ययता का सिद्धान्त कहलाता है जिसका अर्थ है 'यह होने पर ऐसा होने की अवस्था अथवा कारण के होने पर कार्य का होना। इस कार्य कारण नियम के आधार पर दुख समुदाय अर्थात् दुखों की उत्पत्ति का विवरण और विवेचना इस प्रकार है[13]—

1. जरामरण—जरामरण सभी दुःखों का सांकेतिक नाम है। प्रथम आर्य सत्य अर्थात् दुख सत्य से स्पष्ट है कि जन्म लेना दुख है, जरा (बुढ़ापा) दुःख है, मरण दुःख है। दुःख के विविध प्रकार हैं। सभी दुःखों की सत्ता इसलिए है कि व्यक्ति का जन्म होता है। अतः शरीर धारण करना ही दुःख है। व्यक्ति जन्म लेता है, इसके बाद उसके अंग प्रत्यंगों का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है तथा निर्माण के बाद क्षय या विनाश है, जैसे, शरीर के अंगों का गलना, दाँतों का टूटना, बालों का पकना, झड़ना आदि सभी जरा के सूचक हैं। जरा के बाद मरण होता है। यह व्यक्ति का शरीर से वियोग है।

इस प्रकार जन्म शरीर से संयोग है तो मरण वियोग है। यह संयोग-वियोग अनवरत चलता रहता है। पुराने कर्मों के संस्कार से व्यक्ति जन्म लेता है और संस्कार के क्षय होने पर उसका मरण हो जाता है। इस प्रकार जन्म मरण की अनवरत धारा चलती रहती है। यही बन्धन है, संसार है। संसार में जन्म लेकर व्यक्ति नानाविध दुखों को झेलता रहता है, प्रिय से वियोग और अप्रिय से संयोग आदि सभी दुखों को सहता हुआ व्यक्ति अपनी आँखें एक दिन मूँद लेता है। अतः जन्म जरा, मरण सभी दुखों का सांकेतिक नाम हैं।

2. जाति – पुनर्जन्म है। जहाँ जरा-मरण, शोक आदि है वहाँ पुनर्जन्म अवश्य है। व्यक्ति भव चक्र में पड़कर शरीर धारण करता हैं। इसी शरीर धारण करने की क्रिया का नाम जाति या पुनर्जन्म है। जन्म ग्रहण करने से अंगों का निर्माण होने लगता है जो अन्त में नाश को प्राप्त होता है। जन्म ग्रहण करने की क्रिया को जाति बतलाते हुए भगवान् का कहना है—यदि जन्म न होता तो सब किसी की जाति भी न होती, जैसे देवों का देवत्व, गन्धर्वों का गन्धर्वत्व, यक्षों का यक्षत्व, मनुष्यों का मनुष्यत्व, पक्षियों का पक्षित्व आदि। इस प्रकार सभी प्राणियों का वह होना जन्म के कारण ही सम्भव होता है। यदि जन्म न होता तो जरा-मरण दिखलायी न देता (महानिदान सूत्र)।[14]

3. भव – पुनर्भव या पुनर्जन्म है। व्यक्ति मरने के बाद पुनः शरीर धारण करता है, यह व्यक्ति का पुनर्जन्म है। अतः पुनरूत्पत्ति ही पुनर्जन्म है। इसके होने पर ही व्यक्ति माता के पेट में शयन करता है। जाति और भव में सूक्ष्म अन्तर है। जाति जन्म है और भव पुनर्जन्म है। व्यक्ति जब जन्म ग्रहण करता है तो पंचस्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) से युक्त हो जाता है। यह युक्त होना तभी सम्भव है जब पंचस्कन्धों का प्रस्फुरण हो। यह प्रस्फुरण ही पुनरूत्पत्ति या पुनः पनपना है। इस प्रस्फुरण से जन्म होता है। अतः जन्म का कारण पुनर्जन्म है।

4. उपादान—यह सामग्री है। पुनर्जन्म भी पुनर्जन्म की सामग्री के कारण होता है। पुनर्जन्म की सामग्री विषयों का ग्रहण करना है, अर्थात् हम विषयों को ग्रहण करते हैं, इसलिए हमारा पुनर्जन्म होता है। मनुष्य चार प्रकार के विषयों या उपादानों को ग्रहण करता है, अथवा चार प्रकार के विषयों से लिपटे रहता हैं कामोपादान : यह काम (इन्द्रिय) सुख के विषयों का ग्रहण है, दृष्टि उपादान : यह मिथ्या सिद्धान्तों का ग्रहण करना है, शीलोपादान : यह व्यर्थ कर्मकाण्ड के विषयों का ग्रहण है और आत्मोपादान : यह नित्य आत्मा का ग्रहण है। आत्मा को नित्य मानने से ही उसमें आसक्ति होती है और हम उसमें लगे रहना चाहते हैं। ये सभी आसक्ति के विषय हैं, जिनमें मनुष्य लगा रहना चाहता है। अतः सभी पुनर्जन्म की सामग्री है। किसी एक सामग्री को लेकर व्यक्ति एक लोक में पुनर्जन्म नहीं लेता है।

5. तृष्णा – वासना है। विषयों का ग्रहण भी हम विषयों के प्रति वासना (आकर्षण) के कारण करते हैं। जिन विषयों को हम सुखद समझते हैं, उन्हें भोग करने की वासना (आकर्षण) उत्पन्न होती है। अतः इसे विषयभोग या वासना कहा गया सम्पत्ति आदि। भव तृष्णा : कुछ लोग पारलौकिक सुख (स्वर्गादि के सुख) को भोगने की वासना रखते हैं, स्वर्ग में दीर्घायु बनकर देवता के सुख को भोगने की वासना से ग्रस्त हैं। इन तीन प्रकार की वासनाओं को विविध तृष्णा कहा गया है।

6. वेदना – वेदना अनुभव है। इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न अनुभव ही वेदना हैं उदाहरणार्थ, आँख और रूप के संयोग से रूप का अनुभव, नाक और उसके विषय गन्ध के संयोग से गन्ध का अनुभव होता है। अनुभव ज्ञान रूप है। इस प्रकार, आँख, कान, त्वचा, नाक, जिह्वा आदि इन्द्रियों से रूप, शब्द, स्पर्श, गन्ध, स्वाद विषयों के सम्पर्क से रूप, रस, शब्दादि का अनुभव या ज्ञान होता है। वेदना (अनुभव) तीन प्रकार की होती है–सुखात्मक, दुखात्मक और असुखदुखात्मक अर्थात् हमें सुख का अनुभव होता है, दुख का अनुभव होता है और दोनों के परे तटस्थता का अनुभव होता है। इन तीन प्रकार के अनुभवों का सम्मिलित नाम वेदना है।

7. स्पर्श – इन्द्रिय और विषय का संयोग है। हमारी पाँच बाह्य इन्द्रियाँ हैं जिन्हें आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा कहते हैं। इनसे रूप, शब्द, गन्ध, स्वाद और स्पर्श आदि विषयों का संयोग होता है। मन अन्तरिन्द्रिय है जिससे मानसिक विषयों का संयोग होता है। इस प्रकार छः प्रकार की इन्द्रियों से छः के विषयों का संयोग होता है।

8. षडायतन – आश्रय है। हमारी छः इन्द्रियाँ हैं जिनसे छः प्रकार के विषयों का संयोग होता है तथा हमें छः प्रकार का अनुभव होता है। यह तभी सम्भव है जब छः प्रकार के आश्रय हमारे भीतर हो। अतः सभी प्रकार के अनुभव पहले हममें संग्रहात्मक रूप या आश्रयरूप में विद्यमान रहते हैं। जब व्यक्ति माता के उदर से बाहर आता है तो छः प्रकार के आश्रयों से उसे छः प्रकार अनुभव होने लगता है। इन आश्रयों को ही ज्ञानेन्द्रियाँ या ज्ञान का आश्रय कहते हैं।

9. नाम रूप – पंचस्कन्ध की अवस्था है। बौद्ध मत के अनुसार व्यक्ति पंच स्कन्ध रूप है अर्थात् पाँच स्कन्धों में विभक्त हैं : रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। इनमें रूप स्कन्धों में विभक्त हैं : रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। इनमें रूप स्कन्ध शारीरिक है। शरीर का निर्माण पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि महाभूतों से होता है। अतः यह व्यक्ति का शारीरिकरूप है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति का एक आध्यात्मिक रूप है जिसके अन्तर्गत अन्य चार स्कन्ध है। इन चारों का सम्मिलित नाम स्कन्ध है। इसे ही अन्य दर्शनों में आत्मा कहते हैं। बौद्ध मत के अनुसार आत्मा इन स्कन्धों का योग है। इसे नाम स्कन्धा कहते हैं, क्योंकि इन स्कन्धों के कारण ही

व्यक्ति किसी नाम से पुकारा जाता है अथवा जाना जाता है। अतः व्यक्ति शारीरिक और आध्यात्मिक तत्वों का संयोग या नामरूप है। गर्भ क्षण से लेकर शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के रचना-काल को नाम रूप कहा जाता है। इसे माता के गर्भ में प्रतिसन्धि की अवस्था भी कहते हैं। इस अवस्था में रूप चार महाभूतों से उत्पन्न और नाम जिससे व्यक्ति अभिधेय होता है आदि स्कन्धों का निर्माण होता है।

10. विज्ञान – चेतना की अवस्था है। पूर्व जन्म में किये गये कुशल और अकुशल कर्मों के अनुसार मनुष्य को इन्द्रियों एवं विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। अतः पूर्व जन्म के कर्मानुसार माता के गर्भ में आकार सर्वप्रथम इन्द्रिय और विषय की चेतना प्राप्त करता है, यही विज्ञान है।

11. संस्कार – पूर्व जन्म की कर्मावस्था है। हम कर्म करते हैं और फल भोगते हैं, अतः कर्म और फल की अनवरत धारा चलती रहती है। हमने पूर्व जन्म के कर्मानुसार वर्तमान जीवन प्राप्त किया है और वर्तमान कर्म के अनुसार ही हमें भविष्य में जीवन प्राप्त होगा। अतः वर्तमान भूत से जन्य है और भविष्य का जनक है। भूत, वर्तमान, भविष्य सभी एक ही शृंखला की कड़ियाँ हैं। सबका कारण कर्म है। शारीरिक, मानसिक और वाचिक अर्थात् कर्म शरीर, मन और वाणी तीनों से हुआ करते हैं। इनके अनुसार संस्कार भी तीन प्रकार के हैं–काय संस्कार, मन संस्कार और वाणी संस्कार। यही संस्कार चित्तधारा का कारण है जो संसार सातत्य बनाये रहता है।

12. अविद्या – अज्ञान है। बौद्ध दर्शन के अनुसार चार आर्य सत्यों के ज्ञान का अभाव ही अज्ञान या अविद्या है। अविद्या दुःख परम्परा की जननी है। स्वयं भगवान का कहना है : भिक्षुओं, चार आर्य सत्यों के अज्ञान के कारण ही दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा यह आगमन, संस्मरण हो रहा हैं। जब आर्य सत्यों के अज्ञान के कारण ही दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा यह आगमन, संस्करण हो रहा है। जब आर्य सत्यों का ज्ञान हो जाता तो भव नेत्री नष्ट हो जाती, दुख का समूल विनाश हो जाता और पुनः आवागमन नहीं होता। (महापरिनिब्बान सुत्त) आर्य सत्यों के ज्ञान के अभाव में व्यक्ति लोभ-मोह में पड़कर कर्म करता है, दुखद को सुखद, विनाशी को अविनाशी, अनात्म को आत्म रूप समझने लगता है तथा नानाप्रकार के कर्मों को करता है, फल भोगता है। कर्म फल की अविरल धारा चलती रहती है, जन्म पुनर्जन्म का अवरत चक्र चलता रहता हैं सबका मूल अज्ञान है।

उपर्युक्त बारह कड़ियों के विवेचन और विश्लेषण से पता चलता है कि ये निदान हैं, क्योंकि इन्हीं की खोज में भगवान ने 12 वर्षों की अनवरत साधना की। इन निदानों को बतलाने वाले तथागत को महाभिषेक अर्थात् वैद्यराज कहा गया है; क्योंकि उन्होंने मानवता के अनवरत दुख का निदान बतलाया है। इस निदान में बारह कड़ियाँ हैं, अतः इसे जन्म-मरण निदान या भवनिदान भी कहते हैं। इन निदानों को हम

चक्राकार रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं, जैसे अविद्या, संस्कार से लेकर जरा-मरण तक तथा पुनः जरा-मरण से लेकर अविद्या तक। अतः यह जीवन और जगत की चक्राकार व्याख्या है। इसीलिए इसे जन्म-मरनण चक्र, अलात-चक्र, आदि अनेक नाम से पुकारते हैं। इसका स्मरण करने के लिए बौद्ध लोग बारह मणियों की माला फेरते रहते हैं। यही भव संन्तति है, जीवन और जगत का समुचित निदान है। इस द्वादश निदान को बौद्ध धर्म और दर्शन का मूल आधार माना गया है।[15]

तृतीय आर्य सत्य (निर्वाण)

जरा-मरण का निदान नहीं, निर्वाण है जिसकी खोज में महायात्रा की ओर बारह वर्षों की अनवरत साधना की। निर्वाण को निर्वेद की अवस्था कहा गया है, क्योंकि शरीर ही दुःखों का कारण है, जन्म पुनर्जन्म से ही मनुष्य दुख सहता है। जब यह स्रोत बन्द हो जाता है तो दुखों का भी अन्त हो जाता है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति जन्म ग्रहण नहीं करता, अतः अमर हो जाता है या अमृत-तत्व को प्राप्त कर लेता है। भगवान स्वयं कहते हैं : भिक्षुओं, ध्यान दो, मैंने अमृत को पाया है और इसी का आदेश तुम्हें करता हूँ, अब अमृत के द्वार खुल गये। इसे पाकर कुछ पाना शेष नहीं, यह प्राप्तव्य की प्राप्ति, अशेष लाभ, परमशान्ति, परम प्राप्ति, परम शिव की अवस्था है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण का वर्णन दो प्रकार से किया गया है अभावात्मक और भावात्मक। अभावात्मक दृष्टि से निर्वाण जन्म मरण का निरोध, आत्यन्तिक अभाव है। यह तृष्णा-क्षय है अर्थात् राग-द्वेष का क्षय है। राग, द्वेष और मोह से ही भव-सन्तति चलती है, इनके क्षय से यह सन्तति सदा के लिए समाप्त हो जाती है। तृष्णा सभी अकुशल धर्मों का सम्मिलित नाम है। तृष्णा से रहित व्यक्ति जन्म-मरण के मूल को काट देता है। अतः तृष्णा का अन्त भव-सागर की समाप्ति है। निर्वाण का अभावात्मक स्वरूप बतलाते हुए भगवान कहते हैं—मार्ग समाप्त हो गया, आशाएँ मिट गयी, सुखी हुई धाराएँ नहीं बहती, लता कट जाने पर नहीं फैलती, यही निरोध या निर्वाण है। भगवान ने बुझे हुए दीपक से निर्वाण की तुलना की है। दीपक के बुझ जाने के समान वेदनाओं का सदा के लिये समाप्त हो जाना ही निर्वाण है : जिस प्रकार तेल और बत्ती के रहने पर ही दीपक जलता है और इनके समाप्त होने पर दीपक बुझ जाता है, कहाँ चला गया, कुछ पता नहीं? जिस प्रकार लोहे के धन से उड़ी चिनगारियाँ शीघ्र ही बुझ जाती है, कहाँ गयी, कुछ पता नहीं चलता, उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त व्यक्ति का पता नहीं (उदान, पृ. 127) इस प्रकार निर्वाण का अभावात्मक वर्णन किया गया है। परन्तु निर्वाण का भावात्मक वर्णन भी उपलब्ध होता हैं उदाहरणार्थ, निर्वाण को अमृत पद की प्राप्ति कहा गया है। इसे परम सुख, परम लाभ, परम शिव, अद्वितीय योगक्षेम, परम पद की प्राप्ति कहा गया है, उससे परमानन्द की प्राप्ति होती है। थेरीगाथा में कहा गया है कि निर्वाण से बढ़कर कोई सुख नहीं। इसी प्रकार इतिवुतक में बतलाया

गया है कि निर्वाण की प्राप्ति से परम शान्ति का लाभ होता है। सुत्त निपात में कहा गया है कि ऋणी व्यक्ति को ऋण चुकाने के बाद जो प्रसन्नता होती है, बीमार व्यक्ति को स्वास्थ्य लाभ से जो सुख होता है, दासता से मुक्त होने पर दास को जो आनन्द मिलता है, बड़े रेगिस्तान को पार कर पथिक को हर्ष होता है, वहीं सुख और आनन्द भवसागर को पार करने वाले व्यक्ति को होता है। अतः निर्वाण परम सुख की अवस्था है। यह मधु से भी मीठा है। इस प्रकार निर्वाण का भावात्मक वर्णन भी प्राप्त होता है। हीनयानी आचार्य प्रायः निर्वाण का अभावात्मक ही वर्णन करते हैं, परन्तु महायानी आचार्य भावात्मक। प्रसिद्ध आचार्य बुद्धघोष का कहना है कि शशविषाण के समान यह अभावात्मक नहीं। निर्वाण सत् है, विद्यमान है, उपाय के द्वारा निर्वाण की उपलब्धि होती है। यदि निर्वाण अभावात्मक हो तो आर्य आष्टांगिक मार्ग और शील, समाधि, प्रज्ञा के अभ्यास व्यर्थ हो जाएँगे।[16]

चतुर्थ आर्य सत्य (दुख निरोध मार्ग)

इसे आर्य अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। भगवान का कहना है, निर्मल ज्ञान की प्राप्ति के लिये यही एक मार्ग है, कोई दूसरा मार्ग नहीं। इस मार्ग पर चलने से ही तुम दुख का नाश करोगे। बुद्ध के अनुसार यह निर्वाणगामी मार्ग है, जिस प्रकार गंगा, यमुना, सरयु आदि नदियाँ समुद्र की ओर होती है, उसी प्रकार अभ्यास करने पर आर्य अष्टांगिक मार्ग निर्वाण की ओर ले जाने वाला होता है (संयुक्त निकाय) बुद्ध ने इस मार्ग को कल्याण-पथ कहा है। अष्टांगिक मार्ग के आठ अंग इस प्रकार हैं—1. सम्यक् दृष्टि, 2. सम्यक् संकल्प, 3. सम्यक् वाक्, 4. सम्यक् कर्मान्त, 5. सम्यक् आजीव, 6. सम्यक् व्यायाम, 7. सम्यक् स्मृति और 8. सम्यक समाधि। इन्हें तीन स्कन्धों में विभक्त किया जाता है—प्रज्ञा स्कन्ध : सम्यक् दृष्टि संकल्प और सम्यक् वाक्, शील स्कन्ध : सम्यक् कर्मान्त और आजीव और समाधि स्कन्ध : सम्यक् व्यायाम, स्मृति और समाधि। यही बुद्ध शासन है।[18]

सम्यक् दृष्टि—यह निर्वाण मार्ग का प्रथम सोपान है। सम्यक् दृष्टि यथार्थ दृष्टि या यथार्थ ज्ञान है जिससे मिथ्या दृष्टि का अन्त होता है। बुद्ध शासन में सदाचरण के मूल कारणों को पहचान लेना और सदाचरण करना ही सम्यक् दृष्टि या ज्ञान है। परन्तु इसके लिये दुराचरण के मूल कारणों को पहचान लेना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, दुराचरण का ज्ञान सदाचरण के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। पालिनिकायों में मिथ्या ज्ञान के तीन प्रकार बतलाये गये हैं। इन्हें 'विपल्लासा' कहा गया है। ये तीन है : संज्ञा, चित्त और दृष्टि सम्बन्धी मिथ्या धारणाएँ। अनित्य को नित्य समझ लेना दुखद को सुखद समझ लेना, अनात्म को आत्मा समझ लेना इनके उदाहरण हैं। इस प्रकार का मिथ्या ज्ञान ही मिथ्या आचरण या दुराचरण का कारण है। सदाचरण या सम्यक् ज्ञान के लिये इन सभी के लिये इन सभी मिथ्या ज्ञान के स्वरूपों को जान लेना

आवश्यक हैं। पालि निकायों में सम्यक् ज्ञान को कुशल धर्मों का ज्ञान कहा है। इन कुशल धर्मों के ज्ञान के साथ अकुशल धर्मों के ज्ञान की भी आवश्यकता है जिनसे बचना चाहिये। हम संक्षेप में कह सकते हैं कि कुशल कर्मों का ज्ञान ही सम्यक् दृष्टि है। कुशल कर्म है : अहिंसा, अचौर्य, अव्यभिचार, अमृषावचन, अपितुनवचन, अपरूषवचन असंप्रलाप, अलोभ, अप्रतिहिंसा और असत्य ज्ञान अर्थात् हिंसा, चोरी व्यभिचार, झूठ बोलना, चुगली करना, कटुवचन बोलना, व्यर्थ बचन बोलना, लोभ करना, प्रतिहिंसा (व्यापाद) और असत्य दृष्टि आदि सभी अकुशल कर्म है। इनको पहचान लेना तथा इनसे बचना ही कुशल कर्म है। कुशल कर्म का आचरण सदाचरण है और अकुशल का दुराचरण है। अतः कुशल कर्मों का ज्ञान एवं सदाचरण ही सम्यक् दृष्टि है।

सम्यक् संकल्प—यह दृढ़ निश्चय है। कुशल और अकुशल कर्मों को पहचान लेना ही पर्याप्त नहीं, कुशल कर्म के आचरण अर्थात् सदाचरण के लिये और अकुशल कर्म अर्थात् दुराचरण के परित्याग के लिये दृढ़ निश्चय करना चाहिये। सम्यक् संकल्प के तीन प्रकार हैं : नैष्कर्म्य, अव्यापाद (अद्रोह) और अविहिंसा (अहिंसा) का संकल्प। इस प्रकार के संकल्प (दृढ़ निश्चय) के लिये मैत्री-भाव और करूणा की आवश्यकता है अर्थात् सभी जीवों के प्रति प्रेम और दया का भाव होना चाहिये। ये भाव ही शुभ संकल्प के आधार हैं।

सम्यक् वाक्—यह अनुचित वचन का त्याग है। अनुचित वचन चार हैं : मिथ्याभाषण, निन्दा करना, अप्रिय वचन बोलना और वाचालता। इनसे मनुष्य को बचना चाहिये तथा मंगलमय (कल्याणकारी), मधुर वचन (मीठी वाणी) और मित (संक्षिप्त) वचन बोलना चाहिए। भगवान ने कहा है : भिक्षुओ : आपस में इकट्ठा होने पर दो में एक बात होनी चाहिये या तो धार्मिक बातचीत या मौन धारण करना!

सम्यक् कर्मान्त – इसका सम्बन्ध बाह्य जीवन से है। हमारा बाह्य जीवन पापकर्मों के त्याग से पवित्र होता है।

सम्यक् आजीव – जीवन निर्वाह के लिये जीविका के साधनों की आवश्यकता है। साधन उचित और अनुचित दोनों हो सकते हैं। उचित का ग्रहण और अनुचित का त्याग ही सम्यक् आजीव है। अनुचित साधन है : शस्त्र का व्यापार, प्राणी का व्यापार, माँस का व्यापार, मद्य का व्यापार और विष का व्यापार। ये निषिद्ध साधन हैं, इनका त्याग करना चाहिये।[19]

सम्यक् व्यायाम – यह प्रयत्न है। शुभ विचारों को धारण करने और अशुभ विचारों के त्याग के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। तथागत ने चार प्रकार के प्रयत्न या अभ्यास को आवश्यक माना है : संयम प्रयत्न, प्रहाण प्रयत्न, भावना प्रयत्न और अनुरंक्षण प्रयत्न। 'प्रयत्न' या प्रयास से ही बुरी भावनाओं का अन्त और अच्छी भावनाओं का आगमन होता है।

सम्यक् स्मृति – स्मृति का अर्थ स्मरण करना है। पालि निकाओं में स्मृति के साथ सम्प्रजन्य शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है। उदाहरणार्थ, स्मृति और सम्प्रजन्य भिक्षु पर मार का वार नहीं हो सकता, इनसे युक्त होकर भिक्षु दुस्तर भव सागर को पार कर जाते हैं आदि। यह मानसिक सावधानी है। अपने शरीर और मन से होने वाले प्रत्येक कर्म में मानसिक सावधानी रखनी चाहिये। स्मृति की भावना चार क्षेत्रों में आवश्यक है—काया, वेदना, चित्त और धर्म। यही क्रमशः कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना नामक चार स्मृति-प्रस्थान कहलाते हैं। काया को काया रूप में देखने वाली कायानुश्यी है, वह शरीर को क्षणि और विनाशी समझता है। वेदना को वेदना रूप में देखने वाला वेदनानुपश्यी है। वेदना सुखात्मक और दुखात्मक होती है, इनकी उत्पत्ति और इनका विनाश होता है। चित को चित रूप में देखनेवाला चित्तानुश्यी है, वह चित्त में राग की उत्पत्ति और विनाश को देखता है। अतः लोक में किसी वस्तु को मैं और मेरा रूप में नहीं ग्रहण करता। धर्म को धर्म रूप में देखनेवाला धर्णानुपश्यी है। वह धर्म को कामना, द्रोह, हिंसा आदि से रहित जानता है।

सम्यक् समाधि – चित्त की एकाग्रता का नाम समाधि है, समाधि से ही सत्य का साक्षात्कार (प्रज्ञा) होता है और प्रज्ञा की सर्वोच्च अवस्था ही सम्यक् सम्बोधि है। समाधि के दो आवश्यक अंग माने गये हैं—चित्त की एकाग्रता और प्रज्ञा इन दोनों अंगों का स्वयं तथागत ने अनुभव किया था। वे स्वतः बोधि-वृक्ष के नीचे चित्त को एकाग्र कर बैठे और उन्हें प्रज्ञा प्राप्त हुई अर्थात् सत्य का साक्षात्कार हुआ—दुख, क्षणिक, और अनात्म का साक्षात्कार हुआ। बौद्ध धर्म में समाधि की चार अवस्थाएँ बतलायी गयी है। ये सभी ध्यान के अंग हैं। पहली अवस्था में साधक बाह्य विषयों से ध्यान को हटाकर आर्य सत्यों का ही चिन्तन करता है। उसके मन में आर्य सत्यों के प्रति तर्क, वितर्क, संशय उठते हैं। दूसरी अवस्था में सभी सन्देह दूर हो जाते हैं और आर्य-सत्यों के प्रति श्रद्धा का उदय होता है। तीसरी अवस्था में साधक का ध्यान आनन्द से भी हट जाता है तथा उसके मन में उपेक्षा का भाव उत्पन्न होता है, परन्तु दैहिक सुख का भान रहता है। चौथी अवस्था में ध्यान-जन्य आनन्द दैहिक सुख आदि किसी का भान नहीं रहता। यह पूर्ण शान्ति, पूर्ण विराग और पूर्ण निरोध की अवस्था है।[20]

बन्धन – सभी मनुष्यों को दुःख की अनुभूति होती है, इससे ये स्पष्ट होता है कि संसार दुःखमय है। भारतीय दार्शनिक विवेचना का लक्ष्य जीवों को दुःख से मुक्त करना है। दुःख का हेतु अथवा कारण क्या है? सभी दार्शनिक एकमत है कि दुःख का कारण अज्ञान या अविद्या है।

संसार में प्राणियों के दुःखों एवं बन्धनों का कारण अविद्या अथवा अज्ञान है। इसी से प्राणी जन्म मृत्यु को प्राप्त कर अनन्त क्लेशों में अपने को आबद्ध पाता है। किन्तु अज्ञान के स्वरूप का निरूपण सभी दर्शनों में एक जैसा नहीं है। यद्यपि अविद्या

का मूल अज्ञान है यह सभी ने स्वीकार किया है। बौद्ध-दर्शन में चार आर्य सत्य के स्वरूप को न समझना ही अज्ञान या अविद्या है। यह भी सुख-दुःख की परम्परा को उत्पन्न करने वाली है।[21]

बौद्ध-दर्शन में ईश्वर और नित्य आत्मा की सत्ता को नहीं स्वीकार किया गया है। लेकिन उनका प्रयोजन भी दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति, मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति ही है। बुद्ध द्वारा वर्णित चार आर्य सत्यों में प्रथम आर्य सत्य 'सर्व दुःखम् की ही घोषणा करता है। जीवन के हर क्षेत्र में मनुष्य को दुःख की अनुभूति होती है रोग, वार्धकय आदि अनेक कष्टों के कारण जीव या प्राणी सदैव अशान्त रहता है। जगत् के प्रति महात्मा बुद्ध के दृष्टिकोण का पता उनके इसी कथन से स्पष्ट होता है जहाँ उन्होंने यह कहा है कि दुःखियों ने जितने आँसु बहाये हैं उसका पानी समुद्र के जल से भी अधिक है। जन्म लेना, वृद्ध होना, मरना, अनिच्छित की प्राप्ति ही दुःख है अर्थात् सब दुःख ही दुःख है। इसलिए हमें दुःख के कारण की खोज करनी चाहिए।

महात्मा बुद्ध के अनुसार सभी दुःख-परम्पराओं की जननी अविद्या है अविद्या स्वयं अनित्य, संस्कृत और प्रतीत्यसमुत्पत्र है, प्रत्ययों से उत्पन्न और निरूद्ध होने वाली है आस्वों के समुदय से अविद्या का समुदय होता है। इस प्रकार अविद्या का कारण बताया गया है। बौद्ध-दर्शन में स्वीकृत अविद्या हमारे वर्तमान बाह्य तथा आन्तरिक जीवन के संस्कारों का कारण है। यही संस्कारों को उत्पन्न करती है और इसी से दुःख की प्राप्ति होती रहती है। इनके अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान रूप पाँचों उपादान-स्कन्ध दुःखरूप हैं। यह दुःख तीन विभागों में विभक्त है–

(i) दुःख-दुःखता–परिणाय में दुःख रूप होने से मनाप अर्थात् मन को न अच्छे लगने वाले सभी संस्कार दुःख है।

(ii) संस्कार-दुःखता-परिणाय में दुःख रूप होने से मनाप अर्थात् मन को न अच्छे लगने वाले सभी संस्कार दुःख हैं।

(iii) विपरिणाम-दुःखता-अमनाप अर्थात् मन को न अच्छे लगने वाले संस्कार दुःख रूप होने से दुःखप्रद हैं। जो सुखोत्पादक संस्कार हैं, वह उत्पत्ति और स्थिति में सुखोत्पादक होने पर भी परिणाम में दुःखोत्पादक है। धम्मपद में भी कहा गया है कि सुख मानने से दुःख और भय उत्पन्न होता है क्योंकि समस्त संसार आग में जल रहा है, तब इसमें आनन्द का अवसर ही कहाँ है? संसार की समस्त साम्राग्रियाँ जो सुखोत्पादक प्रतीत होती हैं। बिना संस्कार-दुःखता के प्राप्त नहीं होती क्योंकि उनकी प्राप्ति के लिए अनेक कष्ट साध्य प्रयत्न करने होते हैं अतः वे सभी प्रयत्न संसार दुःख है।[22]

दुःखों का कारण तृष्णा है। तृष्णा के कारण ही सत्व या जीवों का पुनर्भव होता है। छः प्रकार की तृष्णा भी है जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं मन। इन छः प्रकार की तृष्णाओं को तीन रूपों में वर्गीकृत किया गया है–काम तृष्णा–विषयों का माँग

करने वाले धर्म को काम कहते हैं। इसकी आसक्ति ही काम-तृष्णा है। भव-तृष्णा शाश्वत दृष्टि को कहते हैं। आत्मा नित्य एवं शाश्वत है इस दृष्टि से संसार में जन्म लेने की इच्छा को ही भव-तृष्णा कहते हैं। विभव-तृष्णा—उच्छेद दृष्टि विभव कहलाती है। मृत्यु के बाद आत्मा का नाश हो जाता है इस दृष्टि के साथ होने वाली तृष्णा को विभव-तृष्णा कहते हैं। यही दुःख-समुदाय है। इसका विस्तृत विवेचना प्रतीत्यसमुत्पाद में किया गया है। इसे 'द्वादशांग' या द्वादशचक्र भी कहते हैं जो इस प्रकार है—अज्ञान या अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादन, भव जाति, जरामरण इस प्रकार सम्पूर्ण दुःख समुदय उत्पन्न होता है। अविद्या यद्यपि भूत-जीवन से सम्बन्धित है लेकिन अन्य दो अर्थात् वर्तमान और भविष्य को भी आच्छादित किये हुए है। चार आर्य सत्यों के ज्ञान से ही अविद्या या अज्ञान का नाश हो सकता है।

मोक्ष – भारतीय दार्शनिकों का लक्ष्य है मोक्ष की प्राप्ति। वह तभी हो सकता है जब संसार से छुटकारा मिले। संसार से छुटकारा कर्म से मुक्त होने पर ही मिलेगा। अतः यह कहा जा सकता है कि कर्म ही बंधन का कारण है। इस बंधन से छुटकारा तभी हो सकता है जब हम अज्ञान से अपने आपको मुक्त कर सकें। इससे यही सिद्ध होता है कि संसार-बन्धन का कारण अज्ञान है और इससे छुटकारा ही मोक्ष अथवा मुक्ति है। मोक्ष को चरमलक्ष्य के रूप में सभी ने स्वीकार किया है चाहे वह आस्तिक दार्शनिक हों अथवा नास्तिक।[23]

बौद्ध दर्शन में मोक्ष को 'निर्वाण' कहा गया है भगवान बुद्ध ने इस परम् अवस्था को साधना के माध्यम से अपने जीवनकाल में ही प्राप्त कर लिया था। निर्वाण का स्वरूप अभाव एवं भाव इन दोनों रूपों में परिलक्षित होता है। यह दुःख विमुक्ति की अवस्था के साथ-साथ परम् सुख अथवा आनन्द की अवस्था भी है। भगवान बुद्ध जीवों को जन्म, मरण रूपी दुःख एवं शोक से विमुक्त करना चाहते थे और इसको उन्होंने निर्वाण के रूप में पाया इसीलिए निर्वाण आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति का नाम है। निर उपसर्गक वान धातु से 'निर्वाण' शब्द बना है। जिसका अर्थ प्रायः तृष्णा का बुझना है। इस अवस्था में पुराने कर्म क्षीण हो जाते हैं जिससे नये की उत्पत्ति नहीं होती है। पुनर्जन्म के सब बीज नष्ट हो जाते हैं और पुनः जन्म लेने में किसी प्रकारकी आसक्ति नहीं होती तथा किसी प्रकार की इच्छा शेष नहीं रह जाती है। इस तरह निर्वाण बुझे हुए दीपक की तरह है दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार तेल और बत्ती के समाप्त हो जाने पर दीपक शान्त हो जाता है उसी प्रकार राग-द्वैषादि के समाप्त होने पर दुःख का निरोध हो जाता है यही निर्वाण की अवस्था है।

किन्तु निर्वाण केवल अभाव मात्र नहीं है क्योंकि यदि इसे केवल अभाव मात्र माना जाएगा तो प्रज्ञा, शील, समाधि आदि के प्रयत्न व्यर्थ हो जाएँगे। यद्यपि परमार्थतः दुःख निरोध रूपी आर्य-सत्य ही निर्वाण है और उपायों के द्वारा उपलब्ध है।

निर्वाण, सुख, आनन्द एवं शान्ति है। निर्वाण की व्याख्या करते हुए स्वयं भगवान बुद्ध ने कहा है कि राग, द्वेष तथा मोह रूपी अग्नि से पंच उपादन रूप स्कन्ध तथा पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध आदि जल रहे हैं क्योंकि इन्द्रियों में कही भी सुख नहीं है, सब दुःख ही दुःख है। इसलिए इन सब दुःखों को छोड़कर, अनित्य और आत्म से दृष्टि को हटाकर जिसने चार आर्य सत्यों में चित्त को एकाग्र किया उसे ही निर्वाण रूपी सत्य का साक्षात्कार होता है। निर्वाण अमृत है, क्योंकि इसमें राग, द्वेष एवं मोह का क्षय होता है। धर्म, संघ, चार आर्य सत्य, शील आदि में श्रद्धा के कारण रस 'अमृत पद' का दर्शन होता है स्वयं बुद्ध ने कहा है कि इन्द्रिय-नियन्त्रण, वैराग्य, अनित्य, दुःख, अनात्म, मृत्यु, स्मरण एवं अशुभ-भावना इन सातों को जानने वाला 'अमृत' पद की ओर जाता है।[24]

थेरीगाथा की अनेक गाथाओं में गौतमी, सुजाता आदि के माध्यम से निर्वाण के अमृतत्व पद की व्याख्या की गयी है निर्वाण परमशान्ति, चित् की विमुक्ति, अमृत पद तथा परम सुख है जिसके लिए स्वयं बुद्ध ने मार्ग बताय है राग, द्वेष तथा आधसक्ति से मुक्त होने के पश्चात् ही अमृत अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है। इनका छेदन किये बिना निर्वाण नहीं मिल सकता। अमृत और शान्ति कहने के साथ ही साथ इन्होंने निर्वाण को अद्वितीय योगक्षेम और अच्युतपद कहा है राग इच्छा तथा मोह आदि से विरत होने वाला अच्चुतपद निर्वाण को प्राप्त करता है। थेरीगाथा में ही निर्वाण को शिवत्व का स्थान अर्थात् शिवपद कहा गया है निर्वाण क्षेय, सुख, शीतल, अमृतपद आदि के रूप में जाना है लेकिन वह जरा और मरण के विनाश के पश्चात् ही भिक्षुणी सुमेधा ने निर्वाण का अत्यन्त ही प्रभावशाली रूप में वर्णन करते हुए कहा है कि यह अजर, अमर, एवं शोक-रहित है यहाँ कोई बाधा या विरोध नहीं है कोई भय या क्लेश नहीं है सम्यक् ज्ञान द्वारा अनेक लोगों ने इस अमृत पद को प्राप्त किया है और आज भी प्राप्त कर रहे है। सुत्त-निपात में बुद्ध ने इसे सर्वोत्तम दीप कहा है जहाँ जरा मृत्यु आदि का प्रवेश नहीं हो सकता।

निर्वाण आज, अभूत, अकृत, असंस्कृत है। यदि यह आज इत्यादि न होता तो जात, भूत, कृत और संस्कृत (संघात) का शमन नहीं हो सकता। स्थविरवादी परम्परा में सोपाद्धिशेष और अनुपाधिशेष रूप में निर्वाण दो प्रकार का माना गया है लोभादि दस क्लेशों के अत्यन्त विनाश होने को सोपाधिशेष निर्वाण कहते है क्लेश शब्द स्थविरवादी बौद्ध-धर्म में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिसके द्वारा मन मलिन किया जाता है जलाया जाता है, दुःखित किया जाता है या प्राणियों को साधारणतः जो मलिन भाव को प्राप्त कराता है वह क्लेश कहलाता है ये क्लेश दस हैं—लोभ, द्वेष, मोह, मान, दृष्टि, स्त्यान, चिकित्सा, औदव्य, अही तथा अनुत्ताप सोपाधिशेष निर्वाण जीवन में प्राप्त होनेवाली अवस्था का निर्वाण है और निरूपाधिशेष जीवन की अवस्था के बाद का। 'निर्गत वानं यस्मिन तत् निर्वाणम्' अर्थात् जिसमें से गमन या संसरण निवृत हो

जाये वह निर्वाह है सोपाधिशेष और निरूपाधिशेष निर्वाण को हि क्रमशः निर्वाण या परिनिर्वाण भी कहा जाता है। सयोपाधिशेष निर्वाण प्राप्त करने की चार सीढ़ियाँ हैं स्रोतपत्र होना, सकृदागामी होना, अनागामी होना तथा अर्हत होना सोपाधिशेष निर्वाण की अवस्था को जीवनमुक्ति की अवस्था कह सकते है।[25]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जो असत्य है वह नाशवान है और नाशवान नहीं है वह निर्वाण है। निर्वाण केवल तृष्णा का उच्छेद करने को कहता है इसलिए इसे उच्छेदवाद नहीं कहा जा सकता। तृष्णा के उच्छेद अथवा निरोध में उपादन निरूद्ध हो जाता है। इस प्रकार समस्त दुःख स्कन्धों का निरोध ही वस्तुतः निर्वाण है। निर्वाण असंस्कृत धातु और परम् सत्य स्वरूप है। यह दुःखों का अन्त है। भगवान बुद्ध ने इस अवस्था को अनिरूक्तावस्था कहा है अर्थात् यह वाणी का विषय नहीं बनाया जा सकता। अतः कहा जा सकता है कि बुद्ध ने उस अवस्था को आत्म विनाश की अवस्था नहीं कहा है, जैसे कि अनेक आलोचक उनके ऊपर आक्षेप करते है। यदि सत्त्वच्छेद अर्थात् आत्मा का विनाश उनका गन्तव्य होता तो वह स्पष्ट रूप से कहते कि मृत्यु के पश्चात् तथागत का अस्तित्व नहीं रहता किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं कहा निर्वाण के विषय में दुःखों का उपशमन और अमृतत्व अच्युतपद की प्राप्ति के कथन से ही स्पष्ट होता है कि यह अवस्था केवल निषेधात्मक नहीं हो सकती। स्वयं भगवान बुद्ध का भी यही मन्तव्य है अतः बुद्ध दुःखवादी तथा उच्छेदवादी नहीं कहे जा सकते। इनके अनुसार जीवन का ध्येय परम् पद या अच्युत पदरूपी निर्वाण को प्राप्त करना है जहाँ समस्त दुःखों का शमन हो जाता है।

सन्दर्भ–

1. विभिन्न धर्मों में ईश्वर कल्पना, डॉ. प्रभाकर मायवे, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, राजेन्द्रनगर पटना, 1988, पृ. 11
2. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, डॉ. ब्रदीनाथ सिंह, आशा प्रकाशन, वाराणसी, 2000, पृ. 146
3. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, डॉ. शोभा निगम, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, 2011, पृ. 105
4. भारतीय दर्शन की भूमिका, डॉ. रामचन्द्र पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, 1996, पृ. 20
5. भारत में नास्तिकवाद, कृष्ण कुमार दीक्षित, शब्दकार, दिल्ली, पृ. 138
6. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, डॉ. बद्रीनाथ सिंह, उपरिविद्, पृ. 150
7. Budnistic Philosophy, Keith, Page 26
8. निरीश्वरवाद : भारतीय एवं पाश्चात्य, डॉ. याकुब मसीह, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1986, पृ. 94

9. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983, पृ. 95
10. Just this have taught and do I Teach ill and the ending of ill, Budnism, Mrs. Rhys Davidsa, Page 159
11. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, एम. हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1987, पृ. 149
12. बौद्ध धर्म एवं दलित चेतना, डॉ. श्यामवृक्ष मौर्य, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2007, पृ. 42
13. भारतीय दर्शन, डॉ. उमेश मिश्र, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1970, पृ. 138
14. निरीश्वरवाद, डॉ. याकुब मसीह, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1973, पृ. 104
15. भारतीय दर्शन, चन्द्रधर शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1990, पृ. 49
16. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, डॉ. बद्रीनाथ सिंह, उपरिविद्, पृ. 159

ललित निबन्ध

दो दिनों का मेला

मृत्युंजय उपाध्याय

हम मेले का आनन्द खूग लेते हैं। इधर-उधर घूमना विभिन्न सामानों को देखना, परखनों मेल-जोल करना, मिलाना-जुलना, सब साथ चलते रहते हैं। कभी उड़न खटोले पर पैंग भरना, कभी .... के घोड़े पर चढ़ना, कभी जादू खेल में मस्त हो जाना। ध्यान दिया जाए तो यह सारा जगत एक मेला ही है। नाना जाति, वर्ग, मजहब, सम्प्रदाय के लोगों का जमघट लगा रहता है यहाँ। .... कारनामे, घोटाले, चमतकार यहाँ चलते रहते हैं।

मनुष्य इस मेले से ऊबा तो उस मेले में पहुँचा। वहाँ के चमत्कार से कुछ क्षण चमत्कृत हुआ फिर अन्यत्र दौड़ गया। मेले का यह आकर्षण जब तक रहेगा, मनुष्य वहाँ फँसा रहेगा। वहाँ बँधा रहेगा। मेला क्या है? माया है। माया का अनन्त विस्तार है। मेले में आए व्यापारी नाना प्रकार से ग्राहक को फँसाते हैं, रमाते हैं। उन्हें मूड़ते हैं।

यह जंगल क्या है? इसका नाम है ससार यानी "संसरयति इति संसारः"। इसमें क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। बच्चा होता है जवान, जवान बूढ़ा और बूढ़ा काल का कलेवा। वैसे भी काल जिसे चाहे अपने पास बुला लेता है, जब चाहे जहाँ चाहे। भले ही मनुष्य झूठे सुख के आगोश में पड़ा हो। आनन्दमग्न होकर काल की नज़र से वह बच कहाँ पाता है?

झूठे सुख को सुख कहत, मानत है मनमोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख लै कुछ गोद॥
(कबीर वचनावली, सं. हरिऔध नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी)

संसार माया है, भ्रम है, छल है, उसे ही सत्य मानकर हमारे सारे क्रियाकलाप चलते रहते हैं। माया का यह अनन्त विस्तार है। अनन्त महिमा है। वह ब्रह्म से भी

पता : वृन्दावन राजेन्द्रपथ, घनबाद 326001, मो. 9065194729

अधिक प्रभावक व व्यापक है। कबीर उस ठगिनी रूप को खूब उभारते हैं। क्या कमाल है उसका कि केशव के घर वह कमला बन जाती है और शिव के घर भवानी। इतना ही नहीं वह मन्दिर में मूर्ति होकर प्रतिष्ठित होती है और तीर्थों में जल रूप से विख्यात है।

माया महाठगिनी हम जानी।
केशव के कमला इवै बैठी
शिव के भवन भवानी
मन्दिर में मूरत इवै बैठी
तीरथ में मई पानी। (कबीर वचनावली)

कुत्ता हड्डी चबाता है, चाटता है, उसे खून का स्वाद मिलता है। काश वह जान पाता कि यह खून उस हड्डी से नहीं वरन उसके जबड़े से निकल रहा है। इस संसार में जीव की वही सिति है। वह स्वयं को मिटा रहा है, जला रहा है, शनैः-शनैः मृत्यु की ओर बढ़ा रहा है। परन्तु सत्य से सामना नहीं कर पाता। जिस दिन बोध होगा, उसी दिन वैराग्य का उदय होगा। मनुष्य साधारण है, खाना, पीना, बच्च जनमाता है। एक दिन मर जाता है, वह सत्य से साक्षात्कार कभी नहीं कर पाता। कारण, उसके भोग की अति नहीं है। पराकाष्ठा नहीं है, जहाँ से योग जन्म है।

मृर्त्यहरि में वैराग्य का जन्म ऐसे ही नहीं हुआ, भोग की अति से हुआ। भोग की अतिशयता एक दिन योग को जन्म होती है। हाँ, जिसमें सत्पात्रता ज्ञानी चाहिए। जिस पिंगला को वह प्राणों से अधिक चाहता था, उसी ने उसे छला था। परिणाम आसक्ति की अतिशयता से अनासक्ति के चरम तक पहुँच गया। मर्तृहरि। वह जिसे अहनिशे मथ प्राणों पर बिठाए रहता था, वह किसी और से, और किसी और से सम्बन्ध रखे तो ऐसे काम और उसे अपने आप पर धिक्कार है। यही उसके वैराग्य का कारण बना। मनुष्य लाख विवशताओं के मध्य जीता है। यही उसका भोग है।

सबमें इतना जीवट, दमखम कहाँ होता है कि वह विपरीतता, विषमता का कर पाए डरकर सामना। वह अमृत उगाना चाहता है बिना जहर पिए। सर्वत्र उजाला फैलाना चाहता है बिना अन्धकार पिए। इसलिए कुछ पाने के लिए कुछ खोना पड़ता है। महान पाने के लिए महान की बलि देनी पड़ती है :

लेना अनल किरीट माल पर,
ओ आशिक होनेवाले,
कालाकूट पहले पी लेना,
सुधा कीज बोने वाले।

कहा गया है कि मनुष्य समझे अपने को अजर अमर और इसी अनुसार करले विद्या और अर्थ का अर्जन भरपूर। परन्तु ..... नहीं, जरा सोचे गम्भीरता से। काल तो

किसी को नहीं छोड़ता। वह शनैः-शनैः इसी ओर बढ़ रहा है। अतएव, कुछ करले धर्माचरण कि कहाँ इसका हिसाब दे पाएँ। श्लोक इस प्रकार है :

अजरामखत प्राज्ञः विद्यामर्थ'च चिंतयेत्।
गृहीत इव केशेवु मृत्युना धर्ममाचरेतू॥

सब क्षणि है। क्षणभंगुर है। नाशवान है। फिर आशा कैसी फिर भी कुछ करना है आज भी शेष, नोकर ना चाहिए पूजा, उपासना कि कुछ सुधरे यह जन्म भावी जन्म। सुदामा के, सम्बोधित कविता 'कान्हा से क्यूँ सुदामा' (संजय नायक 'शिल्प') में यह भाव व्यक्त है :

कान्हा से क्यूँ आस सुदामा
क्या न तेरे पास सुदामा
नहीं तुझे आभास सुदामा
उड़े नहीं उपहास सुदामा (मधुमाती, मई-जून 2018, पृ. 42)

जिसके आँगन में स्वयं कुआँ है, वह क्यों भटके प्यासा इधर-उधर? इसके लिए चाहिए पौरुष, साइस, पराक्रम कि कुएँ से पानी निकाल पाएँ :

करु ब्रहिया बल आपनी, छाड़ि विरानी आस।
जावे आँगन है कुआँ, सो कल मरत पियास॥
(कबीर वचनावली, सम्पादक हरिओध, वाराणसी)

वैसे जीवन में दिन-रात का चक्र चलता रहता है। सुख-दुख आता जाता है। परन्तु सुख में मस्त होकर गाफिल न हो जाएँ और दुःख में टूटकर तर तार न हो जाएँ—यही सामयावस्था है। वीणा के तार को उतना न कसो कि स्वर निकले, न इतना ढीला करो कि बेसुरा हो जाए। अतएव अविरलता निरन्तरता बाधक है, तो उसकी अनुपस्थिति भी कम व्याकुल नहीं करती। इसीलिए सुमित्रानन्दन पन्त को लिखना पड़ा। सन्तुलन बनाने की स्थिति ऐसी हो :

अविरल सुख भी उत्पीड़न,
अविरल दुख भी उत्पीड़न,
सुख दुख की दिवा निशा में,
सोता जगता जगजीवन। (सुख दुःख)

महापुरुष, जननायक अवतार के लक्षण ही हुआ करते हैं विलक्षण। भारत कोकिला सरोजिनी नायडू ने नक भी अपने स्त्रीत्व को अपना हथियार बनाया न ढाला उनके स्वभाव व्यक्तित्व में जो विशेषता थी, वह सर्वकालीन मानव सुलभ आचरण था।

हमने मेहनत की समृद्रध बनाने,
तुम्हारे जागने के प्रफुल्ल क्षण के।

खत्म हुआ हमारा रतजगा,
देखो निकल रहा दिन का उजाला।

(भारत कोकिला सरोजिनी नायडू : डॉ. राजम पिल्लो)

इतना हुआ त्याग, समर्पा देशहित कुर्बानी का जज्बा फिर भी हम कहाँ चेते हैं। अपनी डफली, अपना राग का तराना कहाँ त्यागा है। हालत यहाँ तक पहुँच गई है :

जाति धर्म के जरिये पाये वो सत्ता
हमको आपस में लड़वाया जाएगा।

हम आज कुछ नहीं हैं। न कोई हमारा 'स्व' हैं, पलायन कर रहे हैं। जीवित रहकर भी मर के समान हैं। कहने को हमारा देश है प्रजातन्त्र पर है यह भीड़ तन्त्र, मवेशी तन्त्र। जिधर हाँक दिया, उधर मुँह उठाकर चल दिए। फिर कैसा प्रजातन्त्र, कैसी परिभाषा, एब्राइम लिंकन की दी हुई। स्थितियाँ है। तक पहुँच गई है :

आदमी दीवार होता जा रहा है
आदमी मीनार होता जा रहा है
वह है अब एक अदद मतदाता
उलका खरीदार होता जा रहा है

सच पूछिए तो यह चुनावी माहौल दिन-रात भागदौड़ चिल्लापों, लाउडस्पीकर की कर्णभेदी दहाड़ में मनुष्य कहाँ खड़ा है, यह पता नहीं लगता। रेवडियाँ ब्रॉरी जा रही हैं। पद ओहदे, आमदनी देने के आश्वासनों की गंगा में नहलाया जा रहा है लोगों को। सूरत (व्यवस्था, माहौल) बदलने का गगनभेदी, एलान हो रहा है पर होगा वही ढाक के तीन पात। कविता की माई झरझर रोती रहेगी, उसके आँसू पोछनेवाले कोई नहीं होंगे। यदि इस दो दिनों के मेले को मेला भर मानकर हम आश्वस्त हो गए, तो नतीजा और भी घातक होकर सामने आएगा। हमें तड़पा तड़पा कर मारेगा और हम लाख चाहकर भी उबर नहीं पाएँगे :

यदि सच को हम नहीं पहचान सके
और उतर आए किनारे के उस पार
तब भरा रह जाता है मीनार ए ज्वाल,
जो न तैरने होता है न डूबने एक उबाल
सिर्फ एक भँवर में घुमाये करता है।

(संजय दीपा : मधुमती, नवम्बर 2018, पृ. 40)

अब यह निर्णय करने का अधिकार हमारे पास है कि इन दो दिनों के मेले को मेला मानकर हम ..... हो जाएँ या इस पर मन्थन ककर कुछ सकारात्मक करने का संकल्प हों।

बौद्ध धर्म की प्रासांगिता

स्नेहा कुमारी

आधुनिक काल में बौद्ध धर्म उतना ही प्रासांगिक है, जितना वह प्राचीन काल में प्रासांगिक था। बौद्ध धर्म विश्व का बहुत ही प्राचीन काल का धर्म है। नैतिकता की समस्या देश और काल से जुड़ी रहती है। विश्व समाज में विशेष समय में समाज की अपेक्षाएँ भी विशेष हुआ करती है।[1] (दार्शनिक त्रैमासिक, प्रधान, सम्पादक, डॉ. रमेशचन्द्र सिन्हा, वर्ष-63, अंक-4 अक्टूबर-दिसम्बर, 2017, पृ.-1)

बुद्ध ने जीवन के चरम लक्ष्य का निर्धारण जगत् की वास्तविक समस्याओं से अर्जित ज्ञान के आधार पर किया था। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अथवा निष्कर्ष जीवन की वास्तविक आधार पर स्थिर है, सम्भवतः इन योग्यताओं के कारण ही प्राचीन बौद्ध धर्म एक ऐसे दर्शन की रूप-रेखा प्रस्तुत करता है, जो वर्तमान काल की क्रियात्मक माँगों को तो पूरा करता ही है। धार्मिक विश्वासों और भौतिक विज्ञान के मध्य अवस्थित विरोधों को समाप्त कर यथोचित समन्वय भी स्थापित कर पाता है।[2] (यहाँ कुसुम कुमारी, बौद्ध ध्यान प्रज्ञा प्रकाशन (नई दिल्ली), द्वितीय संस्करण 2005, पृ.-363)

बुद्ध ने अपने जीवन में धर्म को अँधविश्वास या परम्परा के रूप में न अपनाकर, एक मार्ग के रूप में अपनाया। उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का स्वरूप इतना ठोस है कि निहित स्वार्थ की पूर्ति के लिए उनकी अलग व्याख्या अथवा उसके भ्रमात्मक उपयोग की समस्त संभावनाएँ समाप्त हो जाती है। प्राचीन काल में ऐसे प्रयास कई बार किए गए, परन्तु किसी को पर्याप्त सफलता नहीं मिली। यहीं कारण है कि शताब्दियों बाद भी यह धर्म इतना ही समसामयिक, लोकप्रिय और सहज है।

पूर्व के धर्मो से भिन्न बुद्ध धर्म जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में पूर्णतः समर्थ था। इनके उपदेश ग्रन्थों तक निहीत न रहकर जीवन के वास्तविक कार्यक्षेत्र में

*स्नेहा कुमारी (शोधार्थी) D/O :- विजय कुमार, यमुना विहार कॉलनी, तुलसी चौक, रामकृष्णानगर, सदानीचक, पटना, बिहार-804453

फलदायी साबित होते थे, बौद्ध धर्म के अतिरिक्त किसी भी अन्य धर्म में जीवन के मूल भूत सिद्धान्त इतनी सरलता और सुगमता से प्रतिपादित नहीं किए गए।

आधुनिक काल में मानव ने अपने सोचने की शक्ति इतनी बढ़ा ली है, और इतने प्रकार के वैज्ञानिक और तकनीकी उपकरण उपलब्ध कर लिए हैं कि उसे प्रतीत होता है कि उसके जीवन का आदर्श उसके जीवन के यथार्थ के अनुरूप उसे मिल ही सकता है। इसी कारण आधुनिक काल में मानववाद तथा इहलौकिकता की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो गई है। मनुष्य ऐसा समझने लगा है कि उसके आदर्श-प्राप्ति के उपकरण भी उसकी अपनी शक्ति उसके सामर्थ्य में ही निहित है। यहीं कारण है कि आधुनिक काल में ईश्ववादी प्रवृत्तियाँ भी शिथिल हो रही है।[3] (वही पृ.-271)

अतः इस युग में मानव के समक्ष एक ऐसा आदर्श उपस्थित हो जो उसकी मानववादी और इहलौकिक प्रवृत्तियों के साथ उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का भी एक समुचित समन्वय कर सके। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के निर्वाण-विचार में ऐसा समन्वय संभव है। इस विचार में मनुष्य के आत्म-विश्वास को भी प्रश्रय मिलता है और उसकी आध्यात्मिक आकांक्षाओं को भी।

वर्तमान युग में ऐहिकतावाद और मानववाद की धाराएँ प्रखर प्रतीत होती हैं। परम्परागत धर्म उपेक्षित सा हो रहा है। ऐहिकतावाद के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य ऐहिक सुख प्राप्ति है। ऐहिक सुख की प्राप्ति विज्ञान-तकनीक प्रदत्त साधनों के उपयोग से संभव है। लक्ष्य प्राप्ति में भौतिक साधन और बुद्धि के विकास की भूमिका महत्त्वपूर्ण है, न कि शील-समाधि और अतिभौतिक शक्ति का चिन्तन-मनन। फिर मानववाद मानव स्वतन्त्रता और मानव कल्याण को धार्मिक जीवन का लक्ष्य मानता है, किन्तु लक्ष्य प्राप्ति के लिए भौतिक उपकरणों के विकास एवं बुद्धि विकास को ही उपयुक्त स्वीकारता है। साधना और समाधि की उपादेयता इन धाराओं में नहीं केवल भौतिक उपकरण और बौद्धिक विकास से संभव नहीं है। मूल प्रवृत्तियों में सामंजस्य और व्यवस्था लाए बिना स्थायी शान्ति संभव नहीं है।

धर्म के प्रभाव और उस पर आए तथा कथित संकटों के निवारणार्थ अन्ध भक्तों ने सदियों पूर्व से आज तक पता नहीं कितने मनुष्यों की हत्या की लेकिन यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म के नाम पर आज तक रक्तपात की कोई घटना अंकित नहीं हो पाई है। महात्मा बुद्ध के ''बहुजनहिताय बहुजन सुखाय'' के सिद्धान्त के तर्ज पर ही सम्राट अशोक जैसे विजयाकांक्षी शासक के हृदय को इसने अहिंसा से आवृतकर सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया एवं करूणा के महती लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में उल्लेखनीय सफलता पाई, जिसके फलस्वरूप अशोक ने राष्ट्रीय योजना के अनुसार स्वेच्छापूर्वक युद्ध का परित्याग कर अपने पड़ोसी राज्यों का शान्ति और सुरक्षा प्रदान की तथा बल पूर्वक विजय प्राप्त करने के स्थान पर उन राज्यों में नैतिकता, दया तथा प्राणीमात्र के कल्याण की भावना प्रचारित करने के लिए सन्देशवाहक भेजे।

बौद्ध धर्म हमें प्रज्ञा, करूणा, मैत्री का सन्देश देता है। साथ ही जन सामान्य में प्रचण्ड धार्मिक आध्यात्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जागरूकता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकसित करती है। बौद्ध धर्म स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व और न्यायपूर्ण सामाजिक समरस्ता के प्रखर पक्षधर है। यह मानव जीवन के दुःख और पीड़ा के समाप्त करने का अनिवार्य सिद्धान्त देता है।[4] (दार्शनिक त्रैमासिक, प्रधान, सम्पादक, डॉ. रमेशचन्द्र सिन्हा वर्ष-62, अंक-1, जनवरी-मार्च 2016, पृ.-131)

अतः जीवन के प्रति बौद्ध धर्म एक प्रकार की शिक्षा है जिसका अनुपालन कर सम्राट अशोक ने हिंसा का मार्ग त्याग कर सत्य के मार्ग को अपनाया तथा जीवन के चरम उद्देश्य को प्राप्त किया, जो व्यक्ति बुद्ध के चार आर्य सत्य का पालन करता है, वह संसार में व्याप्त सभी दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। ये सत्य मार्ग चार प्रकार के है, जिसे आर्य सत्य कहा जाता है। ये आर्य सत्य हैं– दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का निरोध है और दुःख निरोध का उपाय है। प्रथम आर्य सत्य में दुःख के स्वरूप को बतलाया गया है। तथागत के अनुसार जन्म, जरा मरण, रोग, पुनर्भव, प्रिय का मिलन और वियोग ये सब दुःख हैं। उत्पत्ति और विनाश से युक्त सभी धर्म, दुःख हैं। द्वितीय आर्य सत्य के अन्तर्गत विश्व की हर वस्तु और घटनाओं को दुःखपूर्ण तथा तृष्णा को दुःख का कारण बताया गया है। तृतीय आर्य सत्य ही दुःख निरोध है जिसे निर्वाण के नाम से जाना जाता है। चतुर्थ आर्य सत्य दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला है। इसे दुःख निरोधगामिनी भी कहा जाता है। चतुर्थ आर्य सत्य में आठ मार्गो को बतलाया गया है जिसे अष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं। यह वह मार्ग है जिस पर चलकर बुद्ध ने निर्वाण को प्राप्त किया था। कोई भी व्यक्ति या साधक इस मार्ग पर चलकर निर्वाण की अनुभूति प्राप्त कर सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है। यह मार्ग प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला है। ये मार्ग है–सम्यक् दृष्टि, सम्यक्, संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। कोई भी व्यक्ति या साधक इन आठों मार्ग पर चलकर दुःख के सागर से मुक्ति पा सकता है और इस संसार के बँधन से मुक्त हो कर निर्वाण को प्राप्त कर सकता है।

सम्यक् दृष्टि में बुद्ध ने दुःख का मूल कारण अविद्या को माना है। अविद्या के कारण ही मिथ्या-दृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। यदि मिथ्या दृष्टि के कारण मानव लोभ, क्रोध, मोह और द्वेष में फसता है तो अपने पथ से अलक होता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक मामलों में सम्यक् दृष्टि का अभाव इस संसार में सर्वदा वैमनस्य और कष्ट का कारण रहा व्याप्त धार्मिक अन्धविश्वास के नाम पर उठे विवादों से पूर्णतः छुटकारा मिल सकता है।

सम्यक् संकल्प यह अष्टांगिक मार्ग की दूसरी सीढ़ी है। इसका स्थान सम्यक् दृष्टि (ज्ञान) के उपरान्त ही आता है। सम्यक् व्यवहारों का दृढ़ निश्चय ही सम्यक् संकल्प है।

सम्यक् वाक् यह अष्टांगिक मार्ग का तीसरा सोपान है। यह सम्यक् संकल्प की बाह्य अभिव्यक्ति है। यह एक मानसिक क्रिया है। सम्यक् वाक् का अर्थ है—'असत्य से दूर रहना, किसी की चुगली करने से अपने को बचाना, कठोर भाषा के प्रयोग से बचना एवं निरर्थक वार्तालाप से दूर रहना है,[5] (डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, प्रथम खण्ड, 1998, पृ.-297)

अतः सम्यक् वाक् का तात्पर्य मात्र सत्य बोलने से ही नहीं है। बल्कि आवश्यकतानुरूप बोलने से भी है। कहा जा सकता है। सत्यभाषी और प्रियभाषी होते हुए भी मनुष्य बुरे कर्मों को अपनाकर पथ-भ्रष्ट हो सकता है। अतः बुद्ध के अनुसार सम्यक् कर्मान्त का पालन भी साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बुरे कर्मों का परित्याग तथा इनके विपरीत कर्मों का पालन सम्यक् कर्मान्त है।

सम्यक् आजीविका जीवन निर्वाह हेतु उचित मार्ग का अनुसरण और निषिद्ध उपाय का वर्जन सम्यक् आजीव है, दूसरे शब्दों में जीविकोपार्जन के लिए मार्ग का पालन करना चाहिए। निर्वाण की प्राप्ति के लिए कटुवचन एवं बुरे कर्मों के परित्याग के साथ ही साथ जीवन निर्वाह के लिए अशुभ मार्ग का परित्याग भी परमावश्यक है।

सम्यक् व्यायाम उपर्युक्त पाँच मार्गों पर चलकर भी कोई साधक निर्वाण को अपनाने में असफल रह सकता है। इसका कारण यह है कि साधक निर्वाण को अपनाने में असफल रह सकता है। इसका यह है कि साधक अपने चित्त को नियन्त्रित नहीं कर पाता है। सम्यक् व्यायाम मानसिक स्तर पर एक प्रयत्न है, जिससे वासनाओं को वश में किया जा सकता है। नई और पुरानी प्रवृत्तियों का निरोध सम्यक् व्यायाम द्वारा संभव है।

सम्यक् स्मृति में यह बतलाया गया है, कि साधक को जिन विषयों का ज्ञान हो चुका है उन्हें सदैव स्मरण रखना चाहिए। सम्यक् स्मृति का पालन एक निर्वाण-इच्छुक व्यक्ति को समाधि के योग्य बना देता है। इसलिए सम्यक् स्मृति सम्यक् समाधि के लिए अत्यन्त आवश्यक मानी जाती है।

सम्यक् समाधि में ऊपर दिए गए सातों मार्गे पर चलने के बाद निर्वाण की चाह रखने वाला व्यक्ति अपनी चित्तवृत्तियों का निरोधकर समाधि की अवस्था अपनाने के योग्य हो जाता है। यह अवस्था सुख-दुःख से परे निर्वाण की अवस्था है।

बौद्ध दर्शन में जीवन का चरम लक्ष्य निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करना है। निर्वाण शब्द का विश्लेषण करते है तो हम पाते है कि यह दो शब्दों के योग्य से बना है निःश्वान यहाँ 'नि' निषेध सूचक है और 'वान' तृष्णा के अर्थ में प्रयुक्त माना जाता है, तब निर्वाण का अर्थ हुआ तृष्णा से छुटकारा या तृष्णा का नाश। बुद्ध ने साधक की तृष्णा के गहन वन को काटकर मुक्त हो जाने का सन्देश दिया था। 'सुत्त निपाद' में निर्वाण की उपमा बुझती हुई दीपक की लौ से की गई है। हवा के झोंके से दीपक की लौ बुझ जाती है। लौ का कोई चिह्न शेष नहीं रह जाता। उसी प्रकार नाम रूप

या अन्य स्कन्धों से ज्ञानी मुक्त हो जाता है। बौद्ध साहित्य में निर्वाण की उपमा बुझे हुए दीप से की गई है तथा निर्वाण की अवस्था को निर्वेद की अवस्था कहा गया है। साथ ही साथ निर्वाण में पुराने कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा नवीन की उत्पत्ति नहीं होती पुर्नजन्म के सभी बीज नष्ट हो जाते हैं और व्यक्ति की कोई इच्छा शेष नहीं रहती, अतः ऐसे व्यक्ति की उपमा दीपक से की गई है।[6] (डॉ. कुसुम कुमारी, बौद्ध ध्यान, प्रज्ञा प्रकाशन, 2005, पृ.-57)

निर्वाण की स्थिति में पुनर्जन्म की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। व्यक्ति जन्म ग्रहण नहीं करता और अमर हो जाता है। अर्थात् अमृत तत्त्व को प्राप्त करता है। अतः निर्वाण अमृतोपम, परम शान्त की प्राप्ति है।

निर्वाण की प्राप्ति इस जीवन में भी संभव है। एक मानव इस जीवन में भी अपने दुःखों का निरोध कर सकता है। एक व्यक्ति यदि अपने जीवनकाल में ही राग, द्वेष, मोह, अहंकार इत्यादि पर विजय पा लेता है। तब वह मुक्त हो जाता है। वह संसार में रहकर भी सांसारिकता से अलग रहता है। निर्वाण निष्क्रियता की अवस्था नहीं है। निर्वाण प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को सभी कर्मों का त्याग कर बुद्ध के दिखाए मार्गों का पालन करना पड़ता है। जब ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब उसे अलग रहने की आवश्यकता नहीं महसूस होती है। वह लोक-कल्याण के लिए प्रेरित रहता है। निर्वाण-प्राप्ति के बाद महात्मा बुद्ध को अकर्मण्य रहने का विचार हुआ था। परन्तु संसार के लोगों को दुःखों से पीड़ित देखकर उन्होंने अपने विचार को बदला। जिस मार्ग पर चलकर उन्होंने दुःख के समुद्र को पार किया था, उस मार्ग को उन्होंने अन्य लोगों के हित के रखना आवश्यक समझा। लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर बुद्ध ने घूम-घूमकर अपने उपदेशों को जनता तक पहुँचाया तथा दुःख से पीड़ित मानव को मुक्ति का मार्ग दिखाया।[7] (प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसी दास, 1993, पृ.-103)

इसके सम्बन्ध में यह आम धारणा है कि मोक्ष या निर्वाण सभी प्रकार के सांसारिक कष्टों से परे की अवस्था है। इसके फलस्वरूप सभी प्रकार के सांसारिक दुःखों (आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक) का निरोध हो जाता है साथ जी जीवात्मका 'भव-चक्र' को पार कर जाती है। अर्थात् उन्हें फिर से शरीर धारण नहीं करना पड़ता हैं।[8] (दार्शनिक अनुगूजं, दर्शन परिषद् बिहार, जनवरी-जून एवं जुलाई-दिसम्बर, 2016, पृ.-177)

बुद्ध के अनुसार समस्त मानव जीवन में दुःख ही दुःख हैं। लेकिन मानव स्वाभाव वश इस दुःख से छुटकारा पाना चाहता हैं। बुद्ध के अनुसार मानव जीवन में व्याप्त दुःख अकारण नहीं है अर्थात् इनका कोई न कोई कारण है। यदि इन कारणों का अन्त कर दिया जाए तो मानव जीवन में व्याप्त दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता

है, दुःख से पूर्णतः मुक्ति ही निर्वाण है।[9] (श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' बौद्ध धर्म और बिहार, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, 1998, पृ.-09)

बुद्ध ने अपने आष्टांगिक मार्ग में इन दुःखों को दूर करने के मार्ग को बताया है। जिस पर चलकर व्यक्ति सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में साधक के सभी प्रकार के राग, द्वेष का अन्त हो जाता है। इस अवस्था में चित्त स्थिर हो जाता है, यह आनन्द की अवस्था होती है। आष्टांगिक मार्ग सभी व्यक्तियों और सभी धर्मों के लिए खुला है। जिस पर चलकर मानव के सभी प्रकार के दुःख का अन्त हो जाता है। दुःखों के समस्त कारणों का अन्त कर निर्वाण मानव को दुःखों से मुक्ति दिलाता है।

लोगों के सीमित ज्ञान के कारण ही संसार में जाति और धर्म के विभिन्न भेद अस्तित्ववान हैं। आवश्यकता इस बात की है कि एक धर्म का अनुयायी दूसरे के प्रति सहिष्णु बने। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म अच्छे-बुरे कार्यों की पहचान कराता है।

बौद्ध धर्म ने नम्रतापूर्ण प्रभाव से मानव-जीवन को औदार्यपूर्ण किया और सुख-शान्ति की प्राप्ति की तथा कला, शिक्षा एवं संस्कृति की अभिवृद्धि कर अपने अनुयायियों की प्रवृत्तियों को परिष्कृत किया। संभवतः किसी धर्म या जीवन-मार्ग की प्रभावशीलता और रूढ़ उपयोगिता की परीक्षा उन परिवर्तनों से की जानी चाहिए, जो उनके अनुयायियों के जीवन में तद्सन्दर्भित सिद्धान्तों के पालन से आती है। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म सर्वोपरि साबित होता है।

अतः निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते है कि आज के आधुनिक युग में भी बौद्ध धर्म उतना ही प्रासंगिक है। जितना की बौद्धकालीन युग में था। बौद्ध धर्म कोई एकान्त में आचरण किया जाने वाला रहस्यमयी आचार नहीं है। यह तो एक प्रबल सामाजिक शक्ति है जो संसार आज भयानक विनाश की चौराहे पर खड़ा है। बौद्ध धर्म उसे भी शान्ति मार्ग दिखाने की शक्ति सामर्थ्य रखता है। अतः वर्तमान एवं आधुनिक युग में भी बौद्ध धर्म की प्रासंगिकता एवं उपयोगिकता को नकारा नहीं जा सकता है। बल्कि इसे उत्साहपूर्वक प्रचार एवं प्रसार करने एवं इसके अनुसार आचरण करने की जरूरत है।

दलित साहित्य की शिल्पगत विशेषताएँ

डॉ. चन्द्रभान राम

दलित साहित्य की शिल्पगत विशेषता में भाषा, बिम्ब, प्रतीक, छन्द अलंकार आदि को लेकर हिन्दी साहित्य के आलोचकों में काफी रोष है। वे किसी भी स्तर पर दलित साहित्यकारों की रचनाओं में शिल्पगत विशेषताओं को स्वीकार नहीं करते। ऐसे लाक्षणिक दोषों को दलित साहित्यकार नए सिरे से खारिज करते है। मुद्राराक्षस ने ऐसे आलोच्य दृष्टि पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, कि ''अक्सर यह प्रश्न भी उठता है कि दलित रचनाएँ गुणवत्ता की दृष्टि से कमजोर है। आखिर यह गुणवत्ता है क्या? और हमेशा इस गुणवत्ता का धार्मिक निष्ठा के साथ पालन किया गया है। छन्द इन गुणवत्ता का अनिवार्य तत्व था, पर आधुनिक कविता ने इसे छोड़ दिया। जिस अलंकार निर्भता ने रीति साहित्य की गुणात्मकता के मानक स्थापित किए थे। अलंकार धर्मिकता को वर्तमान साहित्य में कहाँ देखा जाएगा? इस सदी के शुरू में खड़ी बोली को कविता के लिए घोर अनुप्रयुक्त माना जाता था। पर आज कविता खड़ी बोली में ही लिखी जाती है।''[1]

दलित साहित्य की भाषा : हिन्दी दलित साहित्य की भाषा सहज, सरल, आम जन की बोधगम्य भाषा है। जब किसी वर्ग विशेष से कोई रचनाकार अपनी रचनाधर्मिता को लेकर साहित्य में प्रवेश करता है, तो वह केवल अकेला ही प्रवेश नहीं करता, बल्कि उसके साथ उसका पूरा परिवेश, संस्कार और समाज अपनी बोली और भाषा के साथ साहित्य में समाहित होता है। दलित साहित में संस्कृतनिष्ठ, परम्परागत साहित्यिक भाषा काव्य शैली, अलंकार, छन्द आदि को त्यागकर आमजन की भाषा शैली का प्रयोग किया गया है। ऐसी भाषा जिसमें दलितों की पीड़ा उपेक्षा दुत्कार संघर्ष की व्यथा के साथ यर्थाथवादी अभिव्यक्ति का चित्रण हुआ है। दलित साहित्य की भाषा नकार और विरोध से उत्पन्न हुई है, जिसमें सच्चे युगबोध की दलित यातनाएँ साकार हो उठती है। भला ऐसे सच्चे साहित्य के लिए नए बिम्ब छन्द अलंकारादि की

क्या जरूरत है? गैर दलित आलोचक दलित साहित्य को गन्दी और अश्लील भाषा की संज्ञा देते हैं। उन्हें लगता है साहित्य में बनावटी ही सही सुन्दर और आकर्षक भाषा का प्रयोग होना चाहिए। लेकिन दलित साहित्यकार का मानना है कि जब हमारे पास सच्चाई को कहने के लिए पर्याप्त भाषा, बिम्ब उपलब्ध है तो हम क्यों मनगढ़न्त उद्धरण को अपनाए। दलित साहित्य की अपनी पहचान और नैतिक मूल्य है। जो स्वच्छन्द रूप से अपनी बात को अपनी ही भाषा में लिखने के लिए प्रेरित करते है। दलित साहित्यकार जीवन के कटु यर्थाथ को अपनी लेखनी का सर्वोत्तम् माध्यम माना है। दलित साहित्यकार जिस वातावरण में अपना जीवन व्यतीत किया है, उस गन्दी मलिन बस्तियों में कुपोषित असहाय बच्चें जिनका जीवन घोर विपदाओं से भरा पड़ा है जो गन्दे माहोल, कट्टे-फट्टे चिथड़े-वस्त्र तथा मानवता को तार-तार करने वाली व्यवस्था में पल बढ़ रहे हैं ऐसे अनुभूति को सामन्तवादी हिन्दू आलोचक कैसे समझ सकते हैं? यह स्वानुभूति का विषय है, सहानुभूति का नहीं। दलित साहित्यकार की यर्थाथ की स्वानुभूति ही कलात्मकता की परकाष्ठा होती है। क्योंकि रचनाकार का सम्पूर्ण जीवन घुटन, उपेक्षा, तिरस्कार व अभाव का रहा है। उस परिवेश की भाषा को अश्लील कहना न्याय संगत नहीं। दलित साहित्य की भाषा दलित समाज में प्रचलित बोलचाल की भाषा है, यह बनावटीपन से दूर है। इन्हीं तथ्यों पर अपना विचार देते हुए, ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है कि, ''कुछ आलोचक दलित साहित्य में गन्दी और अश्लील भाषा के प्रयोग की ओर संकेत करते है। उन्हें लगता है साहित्य का पाठ 'पवित्र' होना चाहिए। भले ही उसमें बनावटी भाषा, जो अभिजात्य संस्कारों से रची-बसी हो, प्रयोग करना पड़े। यह धारणा उचित नहीं है, क्योंकि दलित साहित्य कल्पना में नहीं जीता। वह जीवन के कटु यर्थाथ से रूबरू होता है। यातनाओं से उपजी आक्रोश भाषा एक तेज औजार की तरह भीतर तक झकझोर देती है। दलित समाज की बोली बानी के ऐसे अनेक शब्द प्रकट होते है, जिनसे साहित्य अनभिज्ञ था। यह दलित साहित्य को ताजगी देता है और भाषा की जड़ता भी टुटती है।''[2]

दलित साहित्य की भाषा विभिन्न अवरोधों और विरोधों के बीच परिमार्जित और परिष्कृत हो अपने आप को स्थापित कर चुकी है। दलित रचनाकारों की रचनाओं में भाव और विचार का अतुलनीय संगम है। इसे डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी ने अपने निबन्ध संग्रह 'पत्ते क्यों गिरते है' में भाव और विचार के समन्वय पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि, ''वस्तुतः साहित्य तब तक साहित्य नहीं है, जब तक भाव और विचार का समन्वय नहीं। प्रत्येक साहित्यकार का कर्तव्य है कि मानव के इस यर्थाथ सत्य को सशक्त भाव के माध्यम से बौधिक समन्वय के साथ प्रस्तुत करे। लेखन में भाव और विचार के समन्वय की जरूरत होती है। पाणिनी भी इस तथ्य को स्वीकार करते है कि मुख से अर्थवान वाणी के प्रकट होने में बुद्धि और मन अर्थात् विचार और भाव दोनों का ही समान रूप से रहना आवश्यक है और तभी साहित्य और साहित्यकार आम आदमी को स्पर्श करने में समर्थ हो सकेगा, उसके सुख-दुःख में

गहराई से उतरेगा, उसके मस्तिष्क की परतों को उकेर सकेगा। यह कितना सच है कि जलसिक्त खेत में ही बीज उगता है। ज्ञान या विचार और भाव की व्यापकता ही साहित्य की निधि है। जिस प्रकार किचड़ में से कमल उगते हैं, भोगी हुई घटनाओं और परिस्थितिजन्य महसूसते दुःखों में से उपजता है।''[3]

दलित साहित्य में बिम्ब और प्रतीक विधानः परिवर्तन प्रकृति का नियम है और साहित्य का धर्म भी। साहित्य नित्य नवीन प्रयोग का द्योतक है। यह पुराने तथ्यों का त्याग कर नया बिम्ब स्थापित करता है। जो साहित्य की मूल प्रवृत्ति है। बिम्ब छन्द मान प्रतिमान अलंकार आदि जो परम्परावादी साहित्यकार की अपनी धूरी है उसे इन साहित्यकारों ने पाश्चात्य एवं पश्चिमी सभ्यता से अनुकरण कर अपनी काव्य को अलंकृत किया है। ऐसा कोई भी साहित्यिक विधान को जो परम्पराओं से आबद्ध है इसे दलित साहित्यकार अपनी साहित्य का उपमान बनाना नहीं चाहता। उसकी अपनी भाषा में आए अनन्त पीड़ा ही उसके बिम्ब सहज सपाट भाषा ही छन्द एवं उनके चेहरे पर उभरी झुर्रिया, असंगठित बिखरे बाल, चिन्तन की असहज रेखाएँ एवं कुरूपता की लाक्षणिकता ही अलंकार विधान है। जो सहजता में समग्रता को समाहित किए हुए हैं। इस तथ्य को नए प्रतिमान में स्थापित करते हुए मुद्राराक्षस ने लिखा है, ''दरअसल कोई भी नया कथ्य अपने पूर्व की विचार परम्परा से विद्रोह करता है। उतनी सीमा तक परम्परा के सौन्दर्यबोध सम्बन्धी मूल्यों को भी तोड़ता है। वह अपनी भाषा अलंकार शास्त्र और अपना छन्द तन्त्र बनाता है। कबीर ने यहीं किया था। उन्होंने संस्कृत का प्रयोग भी नहीं किया था और तत्कालीन सर्वण कथ्य की अवधी और ब्रज भाषा को भी स्वीकार नहीं किया था। उन्होंने जिस भाषा का आविष्कार किया था। वह देश के बहुसंख्यक गैर-साहित्यक समाज के बोध की भाषा थी। इसलिए मात्रिक छन्दों का स्वरूप भी उनका अपना था।''[4]

दलित साहित्य की भाषा गद्याात्मक एवं पद्याात्मक दोनों शैलियों में जनमानस के समक्ष उपलब्ध है। जिसकी भाषा में विरोध का स्वरूप सर्वत्र लक्षित है। पद्य की भाषा से जन-साधारण ज्यादा आकर्षित है, इसलिए दलित कवियों ने पद्यात्मकता को ज्यादा प्रश्रय दिया। इसके सन्दर्भ में दलित चिन्तक व साहित्यकार मोहनदास नैमिशराय ने 'शब्द' की मारक शक्ति से दलित समाज को उद्धेलित किया है। उन्होंने कविताओं में व्यष्टि नहीं समष्टि को जागृत करने का सन्देश दिया है–

''शब्द ही तो थे
जो मनुस्मृति में लिखें गए
राम-राज चला गया
पर शम्बूक की चीख अभी बाकी है
जैसे दलितो के पीठ पर
चोट के निशान।''[5]

दलित साहित्य की भाषा सिर्फ नकार और विद्रोह की भाषा ही नहीं है, बल्कि युग परिवर्तन की छटपटाहत और अन्तर्संबन्धों की ऊर्जा अपने भीतर संजोये हुए है। वह अपनी दुःखद घड़ी से व्यथित है, वह बिते दिनों के काले कारनामों का प्रत्यक्षदर्शी है। जिसके एक याद से पूरा शरीर सिहर उठता है। उसकी पुनरावृत्ति नहीं चाहता। वह खोए हुए मान-सम्मान को पाना चाहता है अब उसकी वेदनाएँ सहने की नहीं प्रतिकार करने के लिए तैयार है। इसी भावना से आहत दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता 'बस्स! बहुत हो चुका' का स्वर उद्वेलित हो कह उठता है—

ओ मेरे अज्ञात अनाम पुरखों
तुम्हारे मूक शब्द जल रहे हैं
दहकती राख की तरह।
राख जो लगातार काँप रही है
रोष से भरी हुई।
दिए की तरह युगों-युगों से।''[6]

दलित साहित्य में गरीबी, भूखमरी, बेबसी और बेरोजगारी आदि के बिम्ब उभरे हैं। दलित साहित्य की अपनी बिम्बधर्मी भाषा दलित परिस्थितियों को हू-ब-हू रूप में चित्रित करती है। प्रतिकात्मक शैली में किसी भी बात को संक्षिप्त एवं सारगर्भित शब्दों में कहा जा सकता है। बिम्ब की सार्थकता पर दलित कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है कि, ''दलित कविता में बिम्ब दलित जीवन की त्रासदी और उसके यथार्थ को व्यक्त करते हैं। दलित कविता में अन्धेरा, आसपास के परिवेश में गन्दगी की सड़ांध, सीलन भरे तंग मकानों में सिसकती जिन्दगी दलित जीवन के यथार्थ हैं जो उनके जीवन का अभिभाज्य घटक बन गए हैं। उन वस्तुओं को दृश्य बिम्ब के स्थान पर रखकर दलित कवि इन्हीं वस्तुओं में अपने जीवन के प्रतिबिम्ब ढूँढ़ता है।''[7]

आभा से मंड़ित बिम्ब, छन्द से इत्तर तंग भरी जीवन की छटपटाहट में नित्य नए उपमानों का असंख्य प्रतिबिम्ब है। जिसे हृदयहीन रूढ़िवादी कवि नहीं समझ सकता। दलित कवयित्री डॉ. सुशीला टाकभौरे की कविता में प्रयुक्त बिम्ब में नारी का विद्रोह सुनाई पड़ता है। वह आक्रोश और विद्रोह की ससक्त अभिव्यक्ति से बोल उठती हैं—

''तुम्हें क्यों शर्म नहीं आई?
गल चुकी मोमबत्तियाँ
आज वह जंगल की आग है
बुझाए न बुझेगी
आग का दरिया बन जाएगी
उसके तेवर पहचानों

सँभालों पुराने जेवर
थान के थान परिधान
नंगेपन पर उतरकर
पुरुष के वर्चस्व का नकार कर
नीचा दिखाएगी।''[8]

कवयित्री ने मोमबत्ती के समान तिल-तिल जलकर भीतर ही भीतर अपने समाज को आग की दरिया बनाना चाहती है जिसमें तपने वाला नग्न-धड़ंग समाज ऊर्जावान सूर्य की भाँति सर्वोच्च शिखर पर उद्यमान हो अपने प्रकाश से छद्म प्रकाश को विलुपित कर सके। अर्थात् इन कविताओं में पीड़ा, अपमान, तिरस्कार, अन्याय आदि बिम्बों के अतिरिक्त आक्रोश, विद्रोह, जुझारु और संघर्षशील जीवन मूल्य भी दलित कविता के बिम्ब हैं। जीवन की अनुभव की भट्ठी में तपकर निकले सजीव बिम्ब की परिकल्पना भुक्तभोगी ही महसूस कर सकता है। इसे दलित चिन्तक डॉ. एन. सिंह ने परम्परावादी समाज को समझाने का प्रयास किया है—''वस्तुतः पारम्परिक हिन्दी काव्यशास्त्र के बिम्ब-विधान के स्थापित मानकों पर हम दलित साहित्य के बिम्बों को परखने का प्रयास यदि करेंगे तो संभव है हमें निराश होना पड़े। लेकिन शोषण, उत्पीड़न और अन्याय की लम्बी परम्परा को ध्यान में रखकर हिन्दी के दलित साहित्य के बिम्ब-विधान को देखें तो हमें ये सभी बिम्ब सहज, यर्थाथ ओर बेहद सजीव लगेंगे।''[9]

हिन्दी दलित साहित्य में प्रतीकों का बहुत महत्व है। प्रतीकों के माध्यम से दलित कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाया है। इस तथ्य को स्वीकारते हुए दलित रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है, ''साहित्य में प्रतीक की महत्ता सर्वविदित है। प्रतीक द्वारा भावना, विचार बोध आदि की अभिव्यक्ति जहाँ रचना को प्रभावशाली बनाती है, वहीं अर्थपूर्ण भी। प्रतीक द्वारा किसी भी बात को संक्षेप में कहा जा सकता है। दलित साहित्य में समाज का पीड़ा, बेवसी, उत्पीड़न शोषण से उपजे आक्रोश को, सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।''[10]

भेड़-बकरी, पशु-पक्षी, शोषण और दमन, गुलामी के प्रतीक है। कमल, सूर्योदय, हवा आदि दलित मुक्ति के प्रतीक के रूप में दलित रचनाओं में उभरकर आए हैं। दलित कविता में प्रतीकों का विवेचन करते हुए दलित विचारक डॉ. तेज सिंह ने लिखा है, ''दलित कविता में परम्परागत प्रतीक भी नए-नए अर्थ देने लगते है। जो स्थायी बिम्ब बनकर हमारी चेतना पर प्रभाव छोड़ जाते है। इसलिए जयप्रकाश कर्दम की कविता में नदी, बोध, कलम और कबूतर जैसे परम्परागत प्रतीक भी नए-नए अर्थ देने लगते हैं। यदि नदी उस ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था का प्रतीक है जो दलित शोषितों का हजारों साल से विनाश करती रही है, तो बौद्ध उन दलितों, शोषितों उत्पीड़ितों की

सामाजिक चेतना और उसकी ताकत का प्रतीक है जो वेगवती नदी को भी अपने काबू में कर सकता है। दलित कवियों की दृष्टि में कलम दो तरह की होती है, एक सनातनी कलम, तो दूसरी दलित कलम। सनातनी कलम से दलितों के वेतन काट दिए जाते है, जमीन, झोंपड़ी से बेघर कर दिया जाता है, प्रैक्टिल में फेल कर दिया जाता है और छदम् को नायक बनाकर झूठा इतिहास लिख दिया जाता है। लेकिन दलित कलम अब इस सनातनी कलम के खिलाफ अपने पैरों पर खड़ी हो गई है और अपनी ताकत के बल पर समाज का सत्य लिखने लग गई है जो :—

''हिंसक और हमलावर कलम के/हर वार को
काटेगी/और क्रान्ति के गोलों से/अन्याय की किलों
को/ध्वस्त करके नया इतिहास रचेगी।''

...ठीक इसी प्रकार कबूतर को प्रेम का सन्देश लेकर नहीं भेजते बल्कि इस बार उसे क्रान्ति का सन्देश देकर भेजते है,

''जाओ/उस व्यक्ति के पास/नहीं पहुँची जिस
तक/अखबार की खबरें भी/सन्देश।''

ठीक इसी प्रकार दलित कविता प्रणय, सौन्दर्य, रस की कविता नहीं है, बल्कि जिन्दगी के जेहाद का प्रतीक बन गई हैं जिसे जारी रहना है,

''उदित होने तक/क्रान्ति का सूत्र/
स्थापित होने तक/सामाज्य।''[11]

आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल की कविता में बिम्ब का एक उदाहरण देखिए—

''आग फैलेगी धीरे-धीरे/आदमी के जंगल में/
और जल उठेंगे खामोश अचल खड़े पड़े/
योग समाधि लिए बैठा बरगद भी/
नहीं बचेगा हमारी लपटों से।''[12]

दलित के अन्तरमन में आग रूपी विद्रोह की ज्वाला जब धधकेगी तो सामन्ती रूपी चिर स्थायी रूढ़िवादी असंख्य वृक्ष इस लपट से अपना अस्तित्व सदा के लिए खो देंगे। जो सदियों से सनातनी परम्परा के प्रतीक बने हुए थे।

दलित साहित्य में मिथकीय चेतनाः दलित कवियों ने अपनी रचनाओं में मिथकों का भरपूर प्रयोग किया है। कर्ण, एकलव्य, शम्बूक नायकत्व की भूमिका में प्रतिष्ठित एवं स्थापित हुए है। इन रचनाओं में परम्परावादी मिथकों को छोड़ दिया गया है, क्योंकि उसमें सच्चाई को छुपाया गया हैं एकलव्य, शम्बूक नायको में दलित चेतना का स्वर मुखरित हुआ है। इस सम्बन्ध में डॉ. तेज सिंह ने लिखा है कि, ''ब्राह्मणवादी

व्यवस्था के समर्थकों द्वारा शम्बूक का वध और एकलव्य का अँगूठा काटने का षड्यन्त्र दलितों में विकसित होती सामाजिक चेतना को शुरू में ही नष्ट कर देने का षड्यन्त्र है। यहीं वजह है कि शम्बूक और एकलव्य दलित कविता में सामाजिक चेतना के ताकतवर प्रतीक बनकर आते हैं। लगभग प्रत्येक दलित कवि ने इन्हें अपनी चेतना का महत्त्वपूर्ण हिस्सा मानकर विद्रोही प्रतीक के रूप में चुना है। दलित कवि की दृष्टि में शम्बूक भले ही इतिहास पुरुष नहीं है, जो राजतन्त्रों में जन्म लेता है, लेकिन उस समय का सच जरूर है। जो असंख्य चेतनाओं का प्रतीक है।''[13]

इस सन्दर्भ में दलित कवि ''डॉ. कॅवल भारती की कविता' शम्बूक का एक अंश देखिए–

''शम्बूक/तुम्हें मालूम नहीं/तुम्हारे वध पर/देवताओं ने पुष्प वर्षा
की थी/कहा था–बहुत ठीक, बहुत ठीक/क्योंकि तुम्हारी
हत्या/दलित चेतना की हत्या थी/स्वतन्त्रता, समानता और न्याय
बोध की हत्या थी/किन्तु शम्बूक/तुम आज भी सच हो/आज भी
दे रहे हो सहादत/सामाजिक परिवर्तन के यज्ञ में।''[14]

परम्परावादी साहित्य ऐतिहासिक कथाओं में उपेक्षित, तिरस्कृत और दमित पात्र जो कथानक के सजीव पात्र है उनकी उपेक्षा की गई है तथा कल्पनातीत नायक को स्थापित कर कथ्य की प्रासंगिता समाप्त की गई है। इसी तथ्य को जीवन्त करने के लिए दलित रचनाकार जी-तोड़ कोशिश में लगे हुए है जिसका प्रतिफल भी सामने आ रहा है। इसी सन्दर्भ में दलित मिथकीय चेतना को रेखांकित करते हुए दलित चिन्तक व लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है कि, ''दलित कवियों ने ऐतिहासिक, पौराणिक मिथकों के द्वारा दलित जीवन की विसंगतियों और सामाजिक सन्दर्भों की वास्तविकता को रेखांकित किया है। कर्ण, एकलव्य शम्बूक, सीता, दलितों की जिजीविषा और विद्रोह के प्रतीक बन गए है। रामायण, महाभारत के अनेक मिथकों के द्वारा दलित जीवन की दाहक स्थितियों को उभारा गया है।''[15]

वेद-पुराणों से अलग दलित पुरुषार्थ को जीवन्त करने वाली हस्तियाँ जिनमें राष्ट्रीय भावना कूट-कूट कर भरी पड़ी थी। जिनके ललकार से जन जागृति चेतना एक सम्बल बनी। वैसे वीर-वीरांगनाओं में मातादीन भंगी, झालकारी बाई, उदादेवी पासी, फूलन देवी आदि नामों को दलित मिथकीय चेतना का आधार बनाया गया है। ऐसे मिथकीय सन्दर्भो का प्रयोग दलित साहित्य अकादमी के अध्यक्ष तथा हिन्दी दलित कविता के सुविख्यात कवि डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर ने अपनी कविता में कही है–

''फूलन/दलित शोषित समाज का प्रतीक है/
चाहे उसे कितना भी बदनाम करो तोहमत धरो/
वह/हमारी ही नहीं/सारी नारी जाती की/शौर्यगाथा है।''[16]

मार्क्सवादी विचारक सह चिन्तनशील लेखिका श्रीमती रमणिका गुप्ता दलित साहित्य के सौन्दर्य शास्त्र में विद्यमान मूलभूत तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहती हैं कि, ''दलित साहित्य ने नए बिम्ब गढ़े, पौराणिक मिथकों की परिभाषा बदल डाली। नए मिथक बनाए, गौरवान्वित झूठ और आस्था पर चोट की और चमत्कार को तोड़ा। अनुभवों की प्रमाणिकता से दलित साहित्य में नया तेवर उभरा जो सीधे मन को छूता है। यह वर्तमान साहित्य के लिजलिजेपन और बासीपन तथा एकरूपी, रसवादी प्रणाली से भिन्न है और चमत्कारी कल्पनाओं से बिल्कुल अलग होता है। इसके दायरे में आत्मविश्वास, भाग्य, पुर्नजन्म के कर्म, धर्म या भगवान नहीं आते। यह प्रत्यक्ष यर्थाथ से मुक्त है, जीवन्त है। जुल्मों से जुझते हुए और जीते हुए के बीच के, इर्द-गिर्द के स्त्री-पुरुष को सामने लाता है।''[17]

दलित साहित्य में जो मिथकीय चेतना उभरकर सामने आई है उनमें विद्रोह, आक्रोश की भावनाएँ, स्वाभिमान की तलाश और अपनी मान-मर्यादा के लिए संघर्षरत जीवन मूल्यों को रेखांकित किया गया है। अतः दलित कवियों ने यह साबित कर दिया है कि छन्द, अलंकार रहित काव्य की रचना की जा सकती है।

सन्दर्भ-सूची :

1. 'साहित्य की संस्कृति में दलित राष्ट्रीय सहारा,' मुद्राराक्षस, 29 नव., 1998, पृष्ठ संख्या-14
2. 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र', ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-81-82
3. 'क्यों पत्ते गिरते हैं,' डॉ. पुरुषोत्तम, सत्यप्रेमी, पृष्ठ संख्या-64
4. 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,' ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-80-81
5. उपरिवत्, पृष्ठ संख्या-82
6. उपरिवत्, पृष्ठ संख्या-83-84
7. उपरिवत्, पृष्ठ संख्या-85
8. 'आज की खुद्दार औरत कविता,' डॉ. सुशीला टाकभौरे, पृष्ठ संख्या-67-68
9. दलित साहित्य के प्रतिमान,' डॉ. एन. सिंह, पृष्ठ संख्या-271-272
10. उपरिवत्, पृष्ठ संख्या-272
11. 'अपने घर की तालाश में,' निर्मला पुतुल, पृष्ठ संख्या-57
12. 'आज के समय की दलित कविता,' सं. डॉ. तेज सिंह
13. उपरिवत्, पृष्ठ संख्या-22
14. उपरिवत्
15. 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,' ओमप्रकाश वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-88
16. 'हिन्दी काव्य में दलित काव्यधारा,' माताप्रसाद, पृष्ठ संख्या-300
17. 'खरी-खरी बात, युद्धरत आम आदमी,' सं. रमणिका गुप्ता, अंक 41-42, पृष्ठ संख्या-6

असम में हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास

दिगंत बोरा

शोध सारांशिका

असम में हिन्दी साहित्य के विकास की चार अवस्थाएँ हैं। असम में हिन्दी साहित्य का विकास सातवीं शताब्दी में नाथ-सिद्धों द्वारा लिखी गई हिन्दी का प्रारम्भिक रूप से माना जाता है। पण्डित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि बहुत से विद्वान सरहपा को कामरूप जिले के रानी गाँव का निवासी मानते हैं। उनके अतिरिक्त लुइपा, दारिकपा आदि सिद्धाचार्य असम के ही निवासी प्रमाणित हुए है। दूसरी अवस्था असम के सन्त श्रीमन्त शंकरदेव तथा उनके शिष्यों द्वारा आई, जब उनलोगों ने ब्रजावली में साहित्य रचना को बढ़ावा दिया। यह भाषा बाँग्ला, मैथिली और ब्रजभाषा का मिला-जुला रूप है। तीसरी अवस्था स्वतन्त्रता संग्राम के समय असम में गोपीनाथ बरदलोई के आह्वान पर असम में हिन्दी प्रचार को गति मिली। असम में 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' और 'असमिया हिन्दी साहित्य परिषद' की स्थापना हुई। इन परिषद के स्थापना के साथ ही असम में हिन्दी साहित्य का उदय और विकास तीव्र गति से हुआ। असम में आधुनिक हिन्दी लेखन प्रमुख व्यक्तियों के जीवनी लेखन तथा राष्ट्रभक्ति सम्बन्धी आलेखों के माध्यम से हुआ। गोपीनाथ बरदलोई पर सन् 1952 ई. में एक स्मृतिग्रन्थ प्रकाशित किया गया। असम का पहला रचनात्मक कृति छगनलाल जैन कृत 'इन्सान की खोज' (1949) नामक नाटक है। पहला कहानी संग्रह और उपन्यास क्रमशः उन्हीं के 'हँसते-हँसते जीना'। (1960) और 'राह और रोड़े' (1963) हैं। हरिहर द्विवेदी कृत 'शराईघाटी' (1961) पहला काव्य संग्रह है। असम में हिन्दी में पर्याप्त लेखन हो रहा है, कुछ निम्नलिखित हैं– 'प्रेयसी', 'सती जयमती', 'देश की पुकार', 'दिल की पुकार', 'अन्तर्मन', आदि। असम में हिन्दी साहित्य के विकास में कुछ बाधाएँ भी सामने आई है। जैसे–लेखकों को उचित

*सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, जे.डी.एच.जी. महाविद्यालय, बोकाखाट, असम

प्रोत्साहन का अभाव, प्रकाशित रचनाओं का प्रचार-प्रसार का अभाव, हिन्दी के प्रति रूचि का अभाव आदि।

बीज शब्द– असम, हिन्दी, सिद्ध, ब्रजावली, असमिया, बरगीत, आधुनिक, साहित्य, इतिहास आदि।

प्रस्तावना

असम में मुख्य रूप से असमिया भाषा बोली जाती है। परन्तु असम के विविध जनजातियों की अपनी अलग-अलग बोलियाँ हैं, फिर वे लोग मुख्य रूप से असमिया भाषा का ही प्रयोग करते हैं। असम के विविध जनजातियों में प्रयोग किए जानेवाली भाषाओं में भाषिक विविधता के साथ-साथ लिपिगत विविधता भी हैं असम में मुख्य तौर पर असमिया भाषा का प्रयोग होता है। यह भाषा भारत के संविधान की आठवीं अनुसूची में संकलित भाषा है। असमिया और बाँग्ला काफी मिलती-जुलती भाषा है। असमिया भारतीय आर्य परिवार की एक भाषा है, जिसका विकास पूर्वी मागधी से हुआ है। असमिया भाषा असम में आम जनता की भाषा है। असम की सम्पर्क भाषा असमिया है। असमिया भाषा की अपनी लिपि है तथा इसका साहित्य भी बहुत समृद्ध है।

मूल विषय

असम में हिन्दी साहित्य के विकास की चार अवस्थाएँ हैं। असम में हिन्दी साहित्य का विकास सातवीं शताब्दी में नाथ-सिद्धों द्वारा लिखी गई हिन्दी के प्रारम्भिक रूप से माना जाता है। पण्डित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि बहुत से विद्वान सरहपा को कामरूप जिले के रानी गाँव का मानते हैं। उनके अतिरिक्त लुइपा, दारिकपा आदि सिद्धाचार्य असम के ही निवासी प्रमाणित हुए हैं। दूसरी अवस्था असम के सन्त श्रीमन्त शंकरदेव तथा उनके शिष्यों द्वारा आई जब उनलोगों ने ब्रजावली में साहित्य रचना को बढ़ाया दिया। यह भाषा बाँग्ला, मैथिली औरे ब्रजभाषा का मिला-जुला रूप है। तीसरी अवस्था असम में गोपीनाथ बरदलोई के आह्वान पर असम में हिन्दी प्रचार को गति मिली। असम में 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' और 'असमिया हिन्दी साहित्य परिषद' की स्थापना हुई। इन परिषद के स्थापना के साथ ही असम में हिन्दी साहित्य का उदय और विकास तीव्र गति से हुआ।

असम में हिन्दी के विकास की चार अवस्थाएँ हैं। असम में हिन्दी का आगमन सातवीं शताब्दी में सिद्ध-नाथों द्वारा लिखी गई हिन्दी के प्रारम्भिक रूप से हुआ। आदिकाल में प्रचलित हिन्दी के प्रारम्भिक अपभ्रंश रूप का प्रयोग नाथ-सिद्धों ने किया था, इसलिए उन्हें हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रखा जाता है। भले ही आचार्य शुक्ल ने इन्हें साम्प्रदायिक मानकर हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखा, लेकिन बाद के

विद्वानों ने इन्हें हिन्दी के प्रारम्भिक कवि के रूप में हिन्दी साहित्य में स्थान दिया हैं। राहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध सरहपा को हिन्दी साहित्य का पहला कवि माना हैं। उनके अनुसार सहरपाद असम के निवासी थे। बहुत से विद्वानों के अनुसार प्रायः सभी सिद्ध आचार्य असम के निवासी थे। विद्वानों ने सहरपाद को कामरूप जिला का रानी नामक गाँव के निवासी मानते है। सहरपा के अतिरिक्त लुइपा, दारिकपा, कन्हपा आदि भी असम के ही निवासी प्रमाणित हुआ है। इस प्रकार असम में हिन्दी साहित्य के विकास की पहली चरण में सिद्ध-नाथ कवियों की साहित्य में हिन्दी के प्रारम्भिक रूप के देखने को मिलते हैं।

असम में हिन्दी साहित्य के विकास के दूसरे चरण में श्रीमन्त शंकरदेव तथा उनके शिष्यों के साहित्य में हिन्दी का रूप देखने को मिलता है। 13-14 वीं शताब्दी में मुसलमानों के आक्रमण से उत्तर के बहुत से लोग असम में रहने के लिए आए थे। वे लोग अपने साथ अपनी संस्कृति, रीति-रिवाज और भाषा को भी लेकर आए थे। उन लोगों ने अपनी भाषा-संस्कृति को असम में प्रसारित किया था। इससे यहाँ हिन्दी आने लगी। इसी काल में असम के महान सन्त, समाज सुधारक श्रीमन्त शंकरदेव का जन्म हुआ। उन्होंने असमिया समाज-संस्कृति, धर्म और भाषा को एक नवीन रूप दिया। श्रीमन्त शंकरदेव एक धार्मिक गुरु थे, इसलिए वे असम के बाहर घूमने के लिए जाते रहते थे। तीर्थ भ्रमण से वापस आते वक्त अपने साथ बाहर के समाज-संस्कृति के साथ-साथ भाषा को भी ले आते थे। इसी तरह असम में शंकरदेव ने जिस भाषा को प्रचलित किया उसे ब्रजावली कहा जाता है। यह भाषा बाँग्ला, मैथिली और ब्रजभाषा का मिला-जुला रूप है। इसी भाषा में शंकरदेव तथा उनके शिष्यों ने काव्य रचना किए। इस प्रकार असम में हिन्दी साहित्य का दूसरा चरण शंकरदेव और उनके शिष्यों के साहित्य में देखने को मिलता है।

अंग्रेजों के खिलाफ जो आन्दोलन चल रहा था वह भी धीरे-धीरे असम पहुँचा। सन् 1919 में जब गाँधीजी असम आए थे तब उन्होंने हिन्दी को स्वतन्त्रता संग्रोम के प्रमुख भाषा के रूप में असम में भी प्रचार किया। गाँधीजी ने हिन्दी भाषा की महत्त्व और राष्ट्रीय एकता में हिन्दी की भूमिका को लोगों को समझाया। इसी का परिणाम स्वरूप असम में हिन्दी के विकास को एक नई दिशा मिली। सन् 1938 में लोकप्रिय गोपीनाथ बरदलोई की अध्यक्षता में 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' भी स्थापना हुई। इसके साथ ही 'असमिया हिन्दी साहित्य परिषद' का भी स्थापना हुआ। इन संस्थाओं के चलते असम में हिन्दी का प्रचार द्रूतगति से होने लगा। 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' के सदस्यों ने गाँव-गाँव घूमकर हिन्दी का प्रचार किया।

भारत स्वतन्त्र होने के पश्चात् असम भारत का ही एक अंग बन गया। हिन्दी भाषी व्यापारी, मजदूर तथा सेना आदि बहुत से लोग असम प्रान्त में आकर बस गए, हिन्दी के प्रचार में इनकी भी भूमिका है। इसके साथ ही आकाशवाणी, सिनेमा,

दूरदर्शन आदि ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। असम के सरकारी स्कूलों में छठी कक्षा से आठवीं कक्षा तक एक अनिवार्य विषय के रूप में हिन्दी को पढ़ाया जाने लगा। पब्लिक स्कूलों में एल.के.जी. से ही हिन्दी की पढ़ाई होती है। इसके बाद नवीं कक्षा से एम.ए. तक हिन्दी एक ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ाई जा सकती है। असम के हर एक विद्यालय, कुछ एक कॉलेज और दो-तीन विश्वविद्यालयों में हिन्दी की पढ़ाई होती है। इस प्रकार स्कूल-कॉलेजों से छात्रों को हिन्दी सीखने में काफी मदद मिल रही है। असम में हिन्दी साहित्य का विकास हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही माना जा सकता है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार हिन्दी का पहला कवि सहरपाद का जन्म असम के रानी (राज्ञी) गाँव में हुआ था, जो कामरूप जिला में है। बहुत से विद्वानों के अनुसार प्रायः सभी सिद्ध आचार्य असम के निवासी थे। इस प्रकार असम में हिन्दी साहित्य की शुरुआत सातवीं सदी में ही हो जाती है। भले ही सहरपाद के जन्म स्थान के सम्बन्ध में विवाद है, परन्तु मीननाथ का जन्म असम में ही हुआ था। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'योग प्रवाह' में कुछ फुटकल गद्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' में कुछ पदों का संग्रह किया है।

इसके पश्चात् श्रीमन्त शंकरदेव तक असम में कोई बड़ा कवि दिखाई नहीं देता है। श्रीमन्त शंकरदेव के अधिकाँश साहित्य असमिया भाषा में ही हैं परन्तु उनके आठ रचनाएँ ब्रजावली भाषा में है—

1. बरगीत 2. फुटकल पद 3. पत्नी प्रसाद 4. कालि-दमन 5. केलि-गोपाल 6. रुक्मिणी-हरण 7. पारिजात हरण 8. राम विजय

इनमें से प्रथम दो काव्य और अन्तिम छह नाटक हैं।

माधवदेव कृत 'बरगीत', 'भूमि लोटवा झुमरा' आदि, गोपाल आता कृत 'जन्म यात्रा', और 'गोपी उद्धव संवाद नाट', रामचरण ठाकुर कृत 'कंस वध', भूषण द्विज कृत 'आजामिल उपाख्यान नाट', दैत्यारि ठाकुर कृत 'नृसिंह यात्रा' आदि प्रमुख है। इसके अलावा ठाकुर जी के कुछ पद भी मिलते हैं।

सोलहवीं-सत्रहवीं के मध्य श्री राम आता ने 'सुभद्रा हरण' नाटक लिखा जिस पर शंकरदेव का प्रभाव देखा जा सकता है। अठारहवीं सदी में गोपाल कृत 'बलि छलन नाट', रामनान्द द्विज के कुछ पद्य मिलते हैं।

असम में मौलिक हिन्दी साहित्य लेखन की शुरुआत आधुनिक काल में ही होती है। असम में आधुनिक हिन्दी लेखन प्रमुख व्यक्तियों के जीवनी लेखन तथा राष्ट्रभक्ति सम्बन्धी आलेखों के माध्यम से हुआ। गोपीनाथ बरदलोई पर सन् 1952 ई. में एक स्मृतिग्रन्थ प्रकाशित किया गया था। असम का पहला रचनात्मक कृति छगनलाल जैन कृत 'इन्सान की खोज' (1949) नामक नाटक है। पहली कहानी संग्रह और उपन्यास क्रमशः उन्हीं के 'हँसते-हँसते जीना' (1960) और 'राह और रोड़े' (1963) हैं। हरिद्वार द्विवेदी कृत 'शराईघाटी' (1961) पहला काव्य संग्रह है। असम में हिन्दी में पर्याप्त

लेखन हो रहा है, कुछ निम्नलिखित हैं– हरिप्रसाद द्विवेदी कृत 'शराईघाटी', रामस्वरूप मागध कृत 'तपोव्रती', चन्द्रभूषण शर्मा कृत 'प्रेयसी', 'कहानी की होली', नवारुण वर्मा कृत 'लाचित बरफुकन', 'सती जयमती', बापचन्द्र महंत कृत 'देश की पुकार', रोहिनी कुमार कृत 'दिल की पुकार', कुसुमलता जैन कृत 'खुले आकाश में', शंकरलाल पारीक कृत 'कविता सरगम', छगनलाल जैन कृत 'हँसते-हँसते जीना', 'राह और रोड़े', 'इन्सान की खोज' आदि प्रमुख हैं।

निष्कर्ष :

1. हिन्दी साहित्य को हिन्दीतर प्रदेशों की देन, सं. डॉ. मलिक मोहम्मद, राजपाल एण्ड सन्स, संस्करण : 1997
2. hindivivek.org
3. m.patrika.com
4. gadyakosh.org
5. samalochan.blogspot.com

वर्तमान युग के युवाओं के लिए गाँधी विचारधारा की आवश्यकता

डॉ. पी. राजरत्नम

युवा! तुम कालों के काल हो
तुम हो बहुत महान
तुम चाहो तो नाश हो
तुम चाहो तो निर्माण

किसी भी देश की उन्नति का प्रमुखभार उनके युवकों पर होता है। देश का भार युवकों के कँधे ही उठा सकते हैं, क्योंकि उनमें आत्मिक शक्ति की भरमार होती है एवं वे प्रत्येक उत्तरदायित्व को सँभालने के योग्य होते हैं। उनकी भुजाओं में साहस, शक्ति, शारीरिक बल, क्षमता आदि होती है। वे आक्रमणकारियों से देश की रक्षा करते हैं, चाहे वह विदेशी के आक्रमण ही क्यों न हो। विपत्तियों के बादल मँडराते हों तब भी आगे बढ़ने वाले युवक ही हैं। विवेकानन्द का कथन है :— तुम जानते हो जब-जब भारत के युवाओं ने ठाना है, आर्य भट्ट का उदय हुआ है। उनमें तन, मन, धन, से देश के लिए सब कुछ अर्पण करने की क्षमता रहती है। देश के लिए जीना मरना जानते हैं। देश के उत्थान के लिए शिक्षा का प्रचार-प्रसार, निरक्षरता मिटाने का प्रयत्न, अकाल, आपत्ति, बाढ़, आँधी, भूकम्प, आदि के समय आगे आकर कार्य करने वाले युवक ही हैं।

आज की जीवन शैली, जीवन स्तर, वातावरण गुणों को देखते समय ज्ञात होता है कि युवकों में उपयुक्त गुणों को और आगे बढ़ने की आवश्यकता है। चारों तरफ से खतरा घिरा हुआ है। इसलिए युवकों को जागना जरूरी है और इनके जागने से ही देश जागेगा। महात्मा गाँधी ने जो जीवन शैली अपनाई, जो विचार अभिव्यक्त किए

एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तिरुवारूर-610005, मोबाइल नम्बर :- 9486067330, ई मेल-rajaretnampdkt@gmail.com

उन्हें अपनाने से देश और आगे बढ़ेगा खासकर युवाओं को एक अनोखी शक्ति एवं प्रेरणा मिलेगी। गाँधी जी की विचारधाराओं में विशेषकर धैर्य, बल, क्षमता, आत्मबलिदान देशवासियों के प्रति चिन्ता, प्रयत्न, कला कौशल एवं दस्तकारी की रक्षा अनुशासन, सदाचार, सेवा भाव, सत्य, अहिंसा, समाज सुधार, साम्प्रदायिकता का विरोध, एकता, मानवतावाद, त्याग भावना, विश्व बन्धुत्व की भावना, प्रेम भावना, वर्ण भेद, जाति धर्म आदि से दूर रहना, व्यक्तित्व का निर्माण करना तथा हिंसा, प्रतिशोध, शोषण घृणा आदि से दूर रहना शामिल है। इसे अपनाकर देश का भविष्य और ऊँचा होगा। उक्त विचारधाराओं पर विचार करेंगे तो युवकों को मालूम होगा की वे कहाँ हैं।

गाँधी जी के कठिन कार्यों, संघर्षों, विषम एवं विशेष साहसों से परिपूर्ण दीर्घ जीवन में कोई भी ऐसा स्वर नहीं निकला जो बेसुरा लगे। उनकी विविध प्रवृत्तियों में आश्चर्यजनक एकरसता भरी थी जिसमें उनके मुँह से निकला हुआ प्रत्येक शब्द एवं कार्य ठीक प्रकार से सज जाता था सारी दुनिया उन्हें मानती थी, इसलिए तो नेहरू जी कहते हैं, उनकी बात सुनते हुए, उन्हें देखते हुए लोग उनके बाह्य शरीर को देखना ही भूल जाते थे। जहाँ वे बैठते थे वह स्थान मन्दिर के सामान पवित्र बन जाता था और जहाँ वे चलते थे वह मार्ग पूजा की जगह बन जाता था।' इससे हम गाँधी जी के विशाल व्यक्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं। आज के युवक नहीं बल्कि हम सब को इसी प्रकार के व्यक्तित्व को अपनाकर पवित्र बनने की कोशिश जारी रखनी चाहिए। गाँधी जी शुद्ध व्यतिरेकी एवं आत्मशुद्धि चाहते थे। उनका कहना था विकास अत्यधिक शान्ति में ही निहित है। अपने अहिंसा के अस्त्र से वे सारे युद्धों, समस्त संघर्षों को समाप्त कर तथा इन मूल्यों के द्वारा मानव जीवन को प्रगति के पथ पर ले जाना चाहिए। वे मानवतावादी थे। उनके विचारानुसार चलने में अनेक लाभ है क्योंकि आज की अधिकतर समस्याओं का मूल कारण अशान्ति, असहिष्णुता है।

साहस, दृढ़ता, ईमानदारी, करुणा, कर्म के प्रति एकता, अटूट निष्ठा, आचार और व्यवहार, चरित्र पर ध्यान आदि ने गाँधी जी को प्रभावित किया जिससे कीर्तिमान बने। गाँधी जी ने शाकाहारी सिद्धान्त को अपनाया जिसका मूल आधार प्रेम है। सभी प्राणियों से प्यार करना उत्तम गुण है, जिसका प्रोत्साहन करते हुए शाकाहारी को अहिंसा के रूप में देखा जाता है। इसका ज्वलन्त उदाहरण बकरे की बलि क्यों? पाठ से समझ सकते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य बकरे से श्रेष्ठ जीवन है इसलिए बकरे को बलि करने के पहले देवी के लिए मेरा भोग चढ़ाइए। युवकों को अँध विश्वास की भावना से हटकर अपनी भलाई की ओर सोचने की प्रेरणा तथा किसी भी प्राणी को कोई कष्ट ना पहुँचाने का पाठ वे सिखाते हैं।

उनके विचारों में जाति, धर्म, प्राण, देश, आदि भेद से दूर हटकर समस्त संसार के मानव से एकता और प्रेम स्थापित करने की महत्ता है। भेदभाव सदैव रहता ही है पर आज हमें उसकी मात्रा बढ़ती हुई महसूस होती है। भेद-भाव के बिना समस्त

प्राणियों से स्नेह तथा उच्च मानवता के साथ रहे तो सबका भविष्य उज्जवल है जिससे सारा समूह आदर की दृष्टि से देखेगा। भारतीय शासन भी आज इसी मन्त्र को अपनाकर समस्त भारत को एक क्षेत्र में लाने की कोशिश कर रहा है।

महात्मा गाँधी का मानना है कि जिस प्रकार त्याग और बलिदान की भावना अत्याचार, अन्याय के खिलाफ सत्याग्रह आदि राष्ट्र हित में हाथ बाँटता है वैसे ही, संयुक्त परिवार युवकों में त्याग मनोभावना को बढ़ता है। स्वार्थतता छोड़कर सब कार्य, जब त्याग भावना सहित करें तो परिवार, समाज और राष्ट्र का कल्याण होगा। अहंकार को जन्म देने वाली अस्पृश्यता, जाति एवं वर्ण व्यवस्था को पाप और अधर्म की संज्ञा गाँधी जी ने दी है। उन्होंने कितना सही कहा है अधिकाँश समस्याओं का मूल कारण ये ही है। उन्होंने जन्म के आधार पर न मानकर कर्म के आधार पर व्यक्ति की प्रतिष्ठा को स्वीकार किया है और निम्न स्तर के लोगों की सेवा की उद्घोषाणा की है। युवाओं के मन में जाति एवं वर्ण व्यवस्था को पनपने नहीं देना एवं इसे जड़ से निकलना भी जरूरी है।

दुनिया के लिए गाँधी जी जो अमूल्य सिद्धान्त छोड़ गए जैसे खादी प्रचार, आजादी, विश्वास आदि इन्हें अपनी कसौटी में कस कर लोग सफलता पा सकते हैं।

और इन पर चलना युवकों अपना का कर्तव्य समझना चाहिए। आजकल कई युवक युवतियाँ (कॉलेज के छात्र-छात्राएँ) खादी वस्त्र पहन कर कॉलेज जाते हैं, जिससे अनेक जुलाहों के जीवन में उज्ज्वलता आ गई। कई ग्रामीण जीवन गुजारने की इच्छा प्रकट करते हैं, क्योंकि वैज्ञानिक युग में पाश्चात्य संस्कृति अपना कर बहुत अनुभव कर चुके हैं, यानी आज का जीवन रोग्र ग्रस्त, अस्वस्थ पीड़ित है। तात्पर्य है इससे बचकर रहना कठिन है।

गाँधी जी के सिद्धान्तों में धार्मिक सहिष्णुता और सहन शीलता की भरमार थी। बैरिस्टर बनने के लिए विलायत जाते वक्त अपनी माता से जो तीन प्रतिज्ञाएँ उन्होंने ली थीं उन्हें अन्त तक निभाया। फैशन की ओर थोड़ा सा झुकाव हुआ था लेकिन उन्हें महसूस होने लगा कि रचनात्मक कार्य को चाहने वाले फैशन की ओर झुकेंगे तो अपने उद्देश्य और रचनात्मक कार्य से हट जाएँगे, खैर ऐसे गुणों के द्वारा आज के युवकों से भी हमारा देश शिखर छुएगा। वर्तमान में नौकरी की तलाश में लोग मर मिटते हैं जबकि अर्हता हो तो हजारों नौकरियाँ समक्ष में है। नौकरी की समस्या विश्वरूप बन बैठी है। एक तरफ आबादी बढ़ रही है। युवकों को अपनी शक्ति को रचनात्मक कार्य में लगाने की आवश्यक है। गाँधी के विचार भी यहीं हैं। वे जेल गए, जेल से छूटने के बाद साम्प्रदायिक दंगों (हिन्दू-मुसलमान उपद्रव) कोसदा के लिए शान्त करने के निमित्त उपवास की घोषणा की, जिस कारण दोनों सम्प्रदायों के नेताओं का ध्यान साम्प्रदायिक दंगों से शान्ति की ओर हुआ। हम सब भारतवासी हैं, बाकी सब विषय बाद में, ऐसी भावना युवकों में होनी चाहिए।

दोहरा अभिशाप : आत्मकथा में अभिव्यक्त दलित स्त्री-जीवन

डॉ. उमा देवी*

दलित स्त्रियाँ जितनी समझदार, कर्मठ तथा संघर्षशील हैं, उतनी ही प्रताड़ित भी हैं। वह स्त्री होने के साथ-साथ दलित स्त्री होने की दोहरी सजा पा रही हैं। दलित समाज पुरुषसत्तात्मक होने के कारण स्त्रियों की स्थिति दोयम दर्जे की है। दलित पुरुष द्वारा भी उन्हें सदा उपेक्षा, अपमान और तिरस्कार ही मिलता रहा है। कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' इस सत्य का उद्‌घाटन करती है। यह आत्मकथा स्त्री की दृष्टि से पुरुषों के बनाए नैतिक मूल्यों का मूल्यांकन करती है। उसे 'दलितों में दलित' बनाए रखने वाले षडयन्त्रों तथा मानसिकता की पोल खोलती है। दोहरा अभिशाप प्रत्यक्ष रूप से लेखिका की आत्मा कहानी है, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से यह उन लाखों-करोड़ों स्त्रियों की कहानी है, जो अस्तित्व व समता हेतु संघर्षरत हैं। इसके मूल में उन सारे मूल्यों, परम्पराओं तथा धारणाओं का बहिष्कार है, जो केवल स्त्री के लिए बनी है।

हिन्दी साहित्य में दलित पुरुषों द्वारा अनेक आत्मकथाएँ लिखी गई हैं। जिनमें दलित जीवन की पीड़ाओं, अछूत होने का दंश, सवर्ण समाज से मिली उपेक्षा, अपमान और घृणा जैसे अनेक पहलुओं का चित्रण तथा विश्लेषण हुआ है। दलित पुरुषों की आत्मकथाओं में आई स्त्रियाँ जाति व लिंग के आधार पर शोषित और पीड़ित हैं। बावजूद इसके इनमें दलित स्त्री-शोषण तथा उत्पीड़न के सारे पक्ष उजागर नहीं हुए हैं। इनमें स्वयं दलित पुरुषों द्वारा उन पर किए जाने वाले अत्याचारों की अभिव्यक्ति नहीं के बराबर हुई हैं।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर (हिन्दी), मनोहारी देवी कनोई महिला महाविद्यालय, डिब्रुगढ़ (असम), ई-मेल– msuma.chetri@gmail.com, फोन– 7896263212

सन् 1999 में आई कौशल्यश बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा ने इस कमी की पूर्ति की। यह हिन्दी साहित्य की पहली आत्मकथा है, जो दलित स्त्री द्वारा लिखी गई है। इसमें दलित स्त्री की शिक्षा, आर्थिक निर्भरता के लिए संघर्ष, जाति व लिंग के आधार पर दोहरा शोषण व अपमान का यथार्थ चित्रण हुआ है। यह आत्मकथा पुरुषसत्तात्मक समाज की क्रूरता को बयाँ करती है। स्त्री जब लिखती है तो अपना 'कुछ खास' लिखती है। अपने रंगों में, अपने ढंगों में, जिए हुए पल को लिखती है। उसमें उसका यथार्थ प्रमुख होता है। पुरुष स्त्री को लेकर संवेदनशील हो सकता है, लेकिन अपने आदर्श से पूर्णतः मुक्त नहीं हो पाता। यहीं उसकी संवेदनशीलता कटघरे में आ जाती है। प्रसिद्ध स्त्रीवादी लेखिका प्रभा खेतान लिखती हैं—''स्त्री-लेखन और पुरुष-लेखन में फर्क होता है और रहेगा...क्योंकि स्त्री और पुरुष आज भी इस पितृसत्तात्मक समाज में जैविक, आर्थिक, सामाजिक धरातल पर भिन्न हैं।''[1]

आत्मकथा के नाम से ही स्पष्ट है कि लेखिका का जीवन दोहरे अभिशाप से अभिशप्त था। एक स्त्री होने का और दूसरा दलित स्त्री होने का अभिशाप। मूलतः इसमें दलित पुरुष-मानसिकता से पर्दा उठाया गया है। लेखिका का विवाह पूर्व का जीवन अत्यन्त सुखद रहा तो विवाहोपरान्त जीवन में उपेक्षा, घृणा तथा पीड़ा ही प्रमुख रही। आत्मकथा के विषय में मस्तराम कपूर लिखते हैं— ''यह उपन्यास लेखिका के लम्बे, संघर्षपूण, कड़वे-मीठे अनुभवों से भरे जीवन के एक सिंहावलोकन के रूप में लिखा गया है।''[2]

प्रस्तुत शोध पत्र में मुख्य रूप से दलित स्त्री पर लिंग के आधार पर होने वाले अत्याचार तथा उसके विरुद्ध संघर्ष को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझने का प्रयत्न किया गया है।

'दोहरा अभिशाप' में लेखिका के अतिरिक्त अन्य अनेक कर्मठ, जुझारू स्त्रियाँ आई हैं। इसमें तीन पीढ़ियों की स्त्रियों का चित्रण हुआ है। लेखिका की आजी, माँ भागेरथी और स्वयं लेखिका हैं। स्त्री चाहे किसी भी जाति, धर्म या समुदाय से हो, उसे अन्याय, अत्याचार तथा शोषण का शिकार होना ही पड़ा है। पितृसत्ता के पैरों तले बार-बार उसकी अस्मिता तथा अस्तित्व को रौंदा गया है। 'दोहरा अभिशाप' पुरुष की ऐसी अमानवीय मानसिकता के खिलाफ विद्रोह है। इसके मूल में स्त्री को गुलाम और निरीह बनाकर रखने वाली सारी परम्पराओं का बहिष्कार है।

लेखिका की आजी का बाल विवाह हुआ था। दुर्भाग्यवश वह बाल विधवा भी बनी। दलित समाज में विधवा विवाह की प्रथा थी। अतः आजी का एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति के साथ 'पाट' कर दिया गया। उसकी पहली पत्नी भी थी। आजी पर उनके पति बहुत अत्याचार करते। गाली-गलौच तथा मारपीट तो आम बात थी। अपनी सौतन से भी प्रताड़ना मिलती रही। उनमें आत्मसम्मान की भावना तीव्र थी। रोज-रोज स्वयं को मिटाकर जिल्लत की जिन्दगी उन्हें स्वीकार न हुई और एक दिन पति का

घर त्याग दिया। अपने तीनों बच्चों को लेकर नागपुर निकल जाती है। रास्ते में बच्ची की मौत पर लेखिका लिखती हैं—''आजी ने अपने दिल पर पत्थर रखा। मन में काबू किया। पास में ही एक गड्ढे में दफना दिया। आजी के मन पर क्या बीती होगी।''[3]

नागपुर पहुँचकर वह मजदूरी करके अपने बच्चों का पालन-पोषण करती हैं। इस दौरान दूसरे बच्चे की भी मौत हो जाती है। केवल लेखिका की माँ भागेरथी ही बचती हैं। फिर भी आजी टूटती नहीं। कभी पति के पास लौटकर नहीं गई। अपने आत्मसम्मान से कभी समझौता नहीं करती। वह आत्मनिर्भर थी और हमेशा कहती रही कि किसी पर कभी बोझ नहीं बनेगी— ''आजी हरदम कहती थी, वे अपनी लड़ाई खुद लड़ेंगी। किसी पर बोझ नहीं बनेंगी। अपने कफन का सामान भी वह स्वयं जुटाएँगी और उन्होंने अपनी बात पूरी करके दिखाई। कफन का सारा सामान उनकी गठरी में मौजूद था। वह मानिनी, स्वाभिमान से रही, किसी के आगे नहीं झुकी।''[4]

लेखिका के जीवन की दूसरी आदर्श स्त्री उनकी माँ भागेरथी थी। वह शिक्षित न थी, किन्तु शिक्षा का महत्त्व जानती थी। उन पर बाबा साहब अम्बेडकर के विचारों का प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अपने सभी बच्चों को शिक्षित किया। बच्चों की ढाल बनकर सदैव अशिक्षित, रूढ़िवादी और पूर्वाग्रही समाज से बचाए रखा। यह दृढ़निश्चय उन्हें अपनी माँ (आजी), से मिला था। वहीं संघर्ष, दृढ़ता और साहस लेखिका को अपनी माँ से मिला। उन्होंने कभी दलित होने के कारण स्वयं को हीन नहीं माना और न सवर्णों को अपने से उच्च माना। लेखिका लिखती हैं—''अब माँ ने हमारी शादी की चिन्ता छोड़ दी और पक्का इरादा कर लिया था कि, चाहे कितनी भी अड़चनें क्यों न आएँ हम सब भाई-बहनों को ऊँची शिक्षा देंगी। वह बहुत दिलेर महिला थी। हमारे दरवाजे के पास लोग रात में टट्टी-पेशाब तक कर जाते थे। शरारत के तौर पर जतलाने के लिए कि हम क्यों पढ़ते हैं। माँ बड़बड़ाती हुई टट्टी-पेशाब साफ करती, लेकिन उन्होंने हार नहीं मानी।''[5]

दलित स्त्रियाँ जितनी समझदार कर्मठ और संघर्षशील हैं, उतनी ही प्रताड़ित भी हैं। दलित पुरुष जहाँ सवर्णों द्वारा अपमानित, शोषित रहे हैं, वहीं स्त्रियाँ सवर्णों के साथ-साथ अपने पुरुषों द्वारा भी उपेक्षित तथा शोषित रही हैं। लेखिका के जीवन में मुख्यतः दो पुरुष आए। एक उनके बाबा और दूसरे उनके पति देवेन्द्र कुमार। बाबा अत्यन्त परिश्रमी, उदार और संवेदनशील व्यक्ति थे। उनके मन में स्त्रियों के प्रति सम्मान का भाव था। उन्होंने भागेरथी के साथ दम्भ से नहीं, प्रेम और साझेदारी से परिवार का दायित्व निभाया। दुर्भाग्यवश लेखिका को देवेन्द्र कुमार के रूप में पूर्वाग्रही, पुरुषदम्भ से ग्रसित अत्यन्त असंवेदनशील जीवन साथी मिला। वह उच्चशिक्षित, भारत सरकार के उच्च पद पर आसीन था। सामाजिक कार्यों में आगे रहता था। देवेन्द्र के इन्हीं गुणों ने लेखिका को प्रभावित किया था। विवाह पूर्व दोनों अच्छे मित्र थे।

विवाहोपरान्त मित्र, पति बन गया। ऐसा पति जिसने कभी लेखिका की भावनाओं की कद्र नहीं की। पल-पल अपमानित और प्रताड़ित ही किया। आत्मकथा की भूमिका में वे लिखती हैं—''पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं, परन्तु मुझे भी तो स्वतन्त्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को आए होंगे परन्तु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरती और जीवन भर घुटन में जीती हैं। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की जरूरत है।''[6]

देवेन्द्र कुमार स्वतन्त्रता सेनानी था, परन्तु स्त्री की स्वतन्त्रता उसे स्वीकार न थी। वह उन दलित पुरुषों का प्रतिनिधित्व करता है जो केवल दिखावें कि लिए स्त्री समता तथा अधिकार की बात करते हैं। देवेन्द्र कुमार पर हिन्दी का मुहावरा 'हाथी के खाने के दाँत अलग और दिखाने के अलग' बिल्कुल सटीक बैठता है। उसका असली चेहरा अत्यन्त क्रूर और घिनौना था। वह लेखिका के साथ गाली-गलौच, मारपीट करता रहता। शिक्षित होने के बावजूद भी अस्तित्व, समता और आत्मनिर्भरता के लिए पति से संघर्ष करती रहीं। वह स्वयं कहता था, मैं बहुत ही शैतान आदमी हूँ। कौशल्याजी लिखती हैं—''उसने मेरी इच्छा, भावना, खुशी की कद्र नहीं की। बात-बात पर गाली, वह भी गन्दी-गन्दी और हाथ उठाना। मारता भी था बहुत क्रूर तरीके से।''[7]

लेखिका एक कुशल गृहिणी थी। उन्होंने विवाहोपरान्त अपनी नौकरी छोड़कर पूरा जीवन पति और बच्चों पर न्यौछावर कर दिया, किन्तु पति से कभी सम्मान, प्रेम नहीं मिला। पत्नी उसके लिए केवल खाना बनाने, कपड़े धोने और बिस्तर गर्म करने वाली एक वस्तु थी। उसकी नजर में लेखिका का अस्तित्व एक मुफ्त की नौकरानी से अधिक न था। राशन, साबुन आदि चीजें भी वह आलमारी में ताला मारकर रखता था। बच्चों के प्रति भी उसका व्यवहार रूखा था। उसकी उपेक्षा के कारण बड़े पुत्र की मृत्यु हो जाती है। छोटे पुत्र से उसकी नहीं पटती थी। लेखिका के बहुत संघर्ष के बाद उन्हें चालीस रुपए महावारी हिसाब से खर्चा देता था। अवकाश प्राप्ति के बाद वह भी बन्द कर दिया था। 'दोहरा अभिशाप' में लेखिका ने प्रसव पीड़ा के समय अकेले पड़ जाने की पीड़ा का चित्रण किया है। प्रसव का समय किसी भी स्त्री के लिए जीवन-मरण का समय होता है। इस समय पति का स्नेह, साथ आवश्यक होता है। देवेन्द्र को इसकी कद्र कहाँ थी? वह पत्नी को अकेले छोड़कर प्रवास पर निकल जाता है। उनकी खोजी-खबर लेना भी आवश्यक नहीं समझता—''ऑपरेटर अस्पताल के दफ्तर में गया। तब उन्होंने दो सौ रुपए का बिल दिया। उसने मुझे आकर कहा कि साहब ने मुझे सिर्फ तीस रुपए दिए हैं, तीन रुपए रोज के हिसाब से दस दिन का कमरे का किराया बस। मैं बहुत दुखी हो गई। मेरे पास फुटी कौड़ी भी नहीं थी।...क्या ऐसे पति से प्यार, श्रद्धा हो सकती है? इस प्रसंग की याद आते ही मेरा खून खोलने लगता है।''[8]

आर्थिक कमजोरी के कारण भी लेखिका देवेन्द्र का अत्याचार सहती रही। उसके सामने बच्चों का भविष्य था। देवेन्द्र का मानना था कि पत्नी को पालने का ठेका उसका नहीं है। वह अपनी व्यवस्था स्वयं करें। अन्ततः लेखिका ने अलग होने का फैसला किया। उस पर कोर्ट केस कर दिया। अब तक बहुत देर हो चुकी थी। यातनाओं के चालीस वर्ष बाद उनमें यह साहस आया था। बच्चे बड़े और समझदार हो गए थे। 'दोहरा अभिशाप' पति से अलग होने के दस साल बाद लिखी गई है।

'दोहरा अभिशाप' लिखकर लेखिका ने दलित समाज की पितृसत्ता का क्रूर चेहरा दिखाया है। साथ ही दलित स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार से भी पर्दा उठाया है। वह ऐसी कुप्रथाओं का विरोध करती हैं, जो केवल स्त्रियों के लिए बनी हैं। जिस समाज में पति परमेश्वर की तरह पूजा जाता है। उस समाज में उन्होंने इस अवधारणा को तोड़ा। उसके खिलाफ बोलने का साहस किया। लेखिका, समाज में पति के बाद पत्नी के खाना खाने वाली प्रथा का विरोध करती हैं। उनका मानना है कि पति पहले खा सकता है तो पत्नी क्यों नहीं? खाने के लिए भूख आवश्यक है, पति नहीं। यह हिन्दी साहित्य में दलित स्त्री-चिन्तन में मील का पत्थर साबित हुआ है। उन्होंने अपनी आत्मकथा लिखकर ऐसे लाखों स्त्रियों की बेबसी और उनकी पीड़ा को शब्द दिए हैं। आत्मकथा में ममता, रामकुंवर, सखाराम की बीवी पुरुषसत्ता के दमन की शिकार हैं। चाहिए कि दलित पुरुष अपनी स्त्रियों के पक्ष में खड़े होकर उनका साथ दे, किन्तु सच्चाई कुछ और होती है। बात-बात पर स्त्रियों पर दोष मढ़कर, चरित्रहीन साबित करना उनकी फितरत होती है। इन पुरुषों के लिए स्त्री को चरित्र सर्टिफिकेट देना बड़ा आसान होता है। जबकि दलित स्त्री-जीवन, उनके पुरुषों की नपुंसक मानसिकता से अधिक पीड़ादायक बनता है। लेखिका लिखती हैं—''पुरुष प्रधान समाज औरतों का खुलापन बरदाश्त नहीं करता। पति तो इस ताक में रहता है, कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिए चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे।''[9]

इस प्रकार 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा लिखकर, लेखिका ने दलित स्त्री-मुक्ति को एक नया दृष्टिकोण दिया है। लक्ष्मी, दुर्गा, देवी जैसी विशेषणों से मण्डित स्त्री सदैव से पुरुष की उपेक्षा, तिरस्कार और शोषण की शिकार रही है। सदियों से वह पुरुष के बनाए अदालत के 'कटघरे' में खड़ी रही है। उसकी महानता को कमजोरी बनाकर उसका शोषण-उत्पीड़न ही हुआ है। स्त्री के लिए विडम्बना यह है, कि परिवार हो या समाज दोनों में उसकी भूमिका पुरुष तय करता है। उसकी स्थिति को पुरुष ही निश्चित करता है। उसका महत्त्व भी उतना ही है, जितना पुरुष की दृष्टि में होता है। सारे कर्तव्यों को निभाकर भी 'अधिकार' का कोई अंश नहीं होता उसके जीवन में। स्त्री सदैव पति की उन्नति में स्वयं की उन्नति मानती है, किन्तु स्त्री की उन्नति पुरुष के लिए पुरुषदम्भ पर प्रहार से कम नहीं है। 'दोहरा अभिशाप' ऐसी ही कई सच्चाईयों से रुबरु कराता है। दलित स्त्रियाँ दलित व स्त्री होने की दोहरी सजा पा रही

हैं। दलित पुरुषों की दृष्टि में भी वह अयोग्य और निम्न हैं। चाहे वह शिक्षित, अशिक्षित, मजदूर या समाज सेवी, नौकरीपेशा हो, सभी स्त्रियों की एक ही स्थिति रही है। आजी से लेकर लेखिका तक सभी पुरुषदम्भ की शिकार हैं। आत्मकथा देवेन्द्र कुमार जैसे दलित बुद्धिजीवियों की सच्चाई उजागर करती है। जो बाहर से समाज सुधारक, स्त्री समता और अधिकार के समर्थक बनते हैं, किन्तु आन्तरिक रूप से ये स्त्री-विरोधी होते हैं। लेखिका ऐसे स्त्री-चिन्तकों का बहिष्कार करती हैं। शिक्षा व्यक्ति की संकीर्ण मानसिकता को दूर कर संस्कारित करती है। वैज्ञानिक सोच विकसित कर सही-गलत की समझ देती है। अतः अशिक्षित व्यक्ति द्वारा किए गए भूलों को अज्ञानवश मानकर क्षमा कर सकते हैं, किन्तु उच्चशिक्षित समाज के नेता, प्रतिष्ठित व्यक्तित्व वालों की ऐसी तुच्छ सोच को आप क्या कहेंगे? उनके अमानवीय कृत्य कभी क्षमा योग्य नहीं हो सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि स्त्री को अपनी लड़ाई खुद लड़नी होगी। मुखौटों में छिपे चेहरे उसे भ्रमित ही करेंगे। अपने फैसले स्वयं लेने होंगें। इस प्रकार 'दोहरा अभिशाप' में जहाँ असहाय, शोषित, पीड़ित, दलित स्त्रियों का चित्रण हुआ है, वहीं जागरुक, स्वाभिमानी, विद्रोहिणी, पुरुषसत्ता को चुनौती देती स्त्रियाँ दलित समाज के लिए प्रेरणा हैं।

सन्दर्भ सूची :–

1. चतुर्वेदी, जे. (1994-95), स्त्रीवादी साहित्य विमर्श। हंस, 1994-95 (जून), 190
2. बैसंत्री। के. (2012), दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली। आवरण पृष्ठ से
3. वही, पृष्ठ–20
4. वही, पृष्ठ–29
5. वही, पृष्ठ–75
6. वही, पृष्ठ–08
7. वही, पृष्ठ–104
8. वही, पृष्ठ–119
9. वही, पृष्ठ–08